आदरणीय,

श्री परिपूर्णानन्द वर्मा

एम०, एल० ए०

को सादर समर्पित ।

देवीप्रसाद धवन 'विकल'

आमुख

हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकारों की कृतियों के संबन्ध में बहुत कुछ पढ़ा और लिखा जा चुका है। साहित्य के विद्यार्थी के लिए उनके व्यक्तिगत जीवन के संबन्ध में यद्यपि कुछ जानना अनिवार्य नहीं है फिर भी जिनकी कृतियों का हम अध्ययन करते हैं तथा जिनकी रचनाओं को पढ़ कर हम विभोर हो जाते हैं उनके व्यक्तिगत जीवन के संबन्ध में कुछ जानना आवश्यक ही सा हो जाता है। साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन का उसके द्वारा प्रणीत साहित्य पर कितना व्यापक प्रभाव पड़ता है तथा उसके चरित्र में ऐसी कौन सी बात है जो उसके साहित्य के स्तर को ऊंचा करने में उसकी सहायता करती रहती है यह कुछ जानना भी पाठक के लिए कुतूहल और मनोरंजन की बात हो जाती है।

समय समय पर हिन्दी के स्वनामधन्य साहित्यकारों से जो मेरी भेंटें हुयी हैं और उन भेंटों द्वारा जो कुछ मैं उनके संबन्ध में जान सका हूं उसे मैंने प्रस्तुत पुस्तक में पाठकों के सामने रखने की चेष्टा की है। जैसा मैंने उन्हें निकट से देखा है वैसा ही उनके संबन्ध में लिखने की चेष्टा की है।

इन साहित्यकारों के अतिरिक्त और भी साहित्यकार हैं जिनके संबन्ध में मैंने लिखा है। यदि पाठकों ने इसे पसन्द किया तो अन्य साहित्यकारों के संबन्ध में लिखे गये निबंधों को प्रकाशित करने की चेष्टा करूंगा।

—लेखक

सीता प्रकाशन,
[illegible]लगंज, कानपुर।
२८-६-४२

साहित्यकार निकट से

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

श्री जयशंकर "प्रसाद"

प्रसाद जी के निकट आने का जीवन में केवल एक ही बार अवसर मिल सका। उनका 'अजातशत्रु' नाटक उस समय इंटर-मीडियेट के कोर्स में था और मैं उसी कक्षा का छात्र था। यह बात लगभग १६२६ की है। नाटक में यत्र-तत्र दी हुई कविताएं मुझे बहुत प्रिय थीं। मैं उन्हें भली भाँति समझने की चेष्टा करता था। उस समय छायावादी कविताओं और कवियों की एक धूम सी मची हुई थी। पाठकों में यह भ्रम फैला दिया गया था कि छायावादी जो कुछ लिखते हैं उसे स्वयं वे ही समझ सकते हैं। प्रसाद जी की कविताओं के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी ही बात प्रचलित कर दी गई थी, यद्यपि प्रसाद जी की कदाचित् ही ऐसी कोई कविता थी जो समझ में आनेवाली न हो। मैं तो सभी कविताओं को समझने की चेष्टा करता तथा समझकर उनमें आनन्द लिया करता था।

जयशंकर 'प्रसाद'

'अजातशत्रु' में एक कविता थी, जिसका कुछ अंश मेरी समझ में स्पष्टरूप से न आ सका था। कालेज में प्रोफेसर महोदय भी उसका अर्थ समझाकर मुझे सन्तोष न दे सके। अन्त में उन्होंने यह कह कर टाल दिया कि 'जाकर इसका अर्थ स्वयं प्रसाद जी से ही पूछ लो।'

यह कविता थी—

मीड़ मत खिंचे बीन के तार।
मसल उठेगी सकरुण ब्रीड़ा,
किसी हृदय को होगी पीड़ा,
नृत्य करेगी नग्न विकलता परदे के उस पार।
मीड़ मत खिंचे बीन के तार॥

'विकलता' स्वयं अपने में सम्पूर्ण होती है। 'विकलता' शब्द का उच्चारण करते ही जो एक भाव हृदय में उत्पन्न होता है उसे और अधिक सार्थक और व्यापक बनाने के लिये नग्न विशेषण जोड़ने की आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती। कहने का तात्पर्य यह है कि हृदय में जो भाव 'विकलता' शब्द उत्पन्न करता है वही नग्न विकलता। फिर 'नग्न' विशेषण की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? प्रायः कवि लोग अपनी पंक्ति में सुन्दर 'गति, या 'यति' लाने के लिये अनर्गल या अनावश्यक विशेषणों को घसीट लाते हैं। यह बात बड़े से बड़े कवियों की रचनाओं में भी मिला करती है। कवि के लिए विशेषण बहुत ही महत्व की वस्तु हुआ करती है, और उसी के बल पर वह पिंगल के नियमों को सार्थक करने में समर्थ होता है।

प्रसाद जी के सम्बन्ध में भी मैंने ठीक यही बात सोची।

प्रोफेसर महोदय ने जब उनसे मिलकर उक्त पंक्ति का अर्थ पूछने की बात कही तो मेरा ध्यान कविता से हटकर प्रसाद जी की ओर चला गया।

प्रमुख साहित्यकारों से मिलना तथा उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अधिक से अधिक बातें जानने का चाव मुझे विद्यार्थी जीवन से ही रहा है। इस सम्बन्ध में प्रसाद जी की ओर कभी मेरा ध्यान भी नहीं गया था, क्योंकि मैं प्रसाद जी को एक ऐसा महान व्यक्ति समझता था जिसके निकट जाने का प्रायः बहुत कम साहस हुआ करता है। मेरी दृष्टि में प्रसाद जी का मूल्य साधारण मानव से कहीं अधिक ऊचा था।

किन्तु उस दिन प्रसाद जी से मिलने की धारणा एकाएक बलवती हो गई। सोचा कि क्यों न प्रसाद जी से ही मिलकर उक्त पक्ति का अर्थ पूछा जाय। इस बहाने को लेकर प्रसाद जी के दर्शन भी हो जांयगे और उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ जानने का अवसर भी मिल जायगा। इसके अतिरिक्त एक बात और थी। अपने सहपाठियो में एक डींग हांकने को मिल जायगी, वह यह कि मैं उस व्यक्ति से बात कर आया हूँ जिसकी लिखी पुस्तक तुम लोग पढ़ रहे हो।

स्वभावतः मैं थोड़ा सहसाकर्मी भी हूँ। जिस बात को सोचता हूँ उसे फौरन कार्य रूप में परिणत करने का मेरा स्वभाव है। अपने जीवन में मैंने कभी कोई ऐसी योजना तैयार नहीं की जिसे किसी न किसी अंश में कार्य रूप में परिणत न किया हो।

यह तो भली भाँति मालूम ही था कि प्रसाद जी काशी में अमुक स्थान में मिलते हैं, बस चल दिया एक दिन उनसे मिलने के लिये। मार्ग में यही सोचता चला गया कि देखें प्रसाद जी मुझ

से मिलते हैं या नहीं ? इतने महान् व्यक्ति से मिल लेना ठट्ठे की बात थोड़े ही है ? फिर उनका स्वभाव जाने कैसा हो ? इन्हीं सब बातों को बार-बार सोचता हुआ मैं काशी पहुँच गया।

दालमण्डी के पास नारियल बाजार में सुंघनी साहु की तमाखू की दुकान है, उसी में प्रसाद जी के दर्शन करने की बात सोचकर चला था, अपने एक निकट सम्बन्धी के यहाँ अपने बिस्तर रखकर तथा स्नानादि से निवृत्त हो मैं प्रसाद जी से मिलने चल दिया। साथ में 'अजातशत्रु' की प्रति भी ले ली थी।

चौक से दालमण्डी की तरफ मुड़ते ही दाहिने हाथ की ओर नारियल बाजार के नुक्कड़ पर सुंघनी साहु की छोटी सी दुकान दिखलाई पड़ जाती है। मैं सीधा दुकान के सामने पहुँच कर खड़ा हो गया। सामने बायीं ओर थोड़ा हट कर गद्दी पर एक गोरे से वर्ण के सुन्दर शरीर वाले व्यक्ति को बैठे देखा। उसके चेहरे पर एक तेज सा खिल रहा था तथा उसके व्यक्तित्व ने न जाने क्यों मुझे विश्वास दिला दिया कि ये ही श्री जयशङ्कर'प्रसाद' हैं।

मैंने आगे बढ़कर उनसे प्रश्न किया, 'प्रसाद जी क्या यहीं बैठते हैं ?'

उन्होंने एक बार मेरी ओर साधारण सी दृष्टि से देखा और कहा, 'कहिये, क्या चाहिये आपको ? '

क्षण भर मैं उनकी ओर देखता रहा फिर बोला, 'क्या आपही प्रसाद जी......'

वे बीच में ही बोल उठे 'हाँ हाँ, कहिये, मैं ही प्रसाद जी हूँ। बैठिये, कहिये कहाँ से पधारे हैं आप ? '

मैं धीरे से बैठ गया। थोड़ी देर के लिये तो मानो मैं भूल ही गया कि मैं क्या करूं, क्या कहूँ ?

कदाचित् मेरी स्थिति समझकर ही प्रसाद जी बोल उठे थे, 'आप कालेज के छात्र हैं ?'

मुझे मानों बोलने का बल-सा मिला। मैं बोल उठा 'जी हाँ, मैं कालेज में—कानपुर में—पढ़ता हूँ।'

प्रसाद जी ने बातों का सिलसिला बाँधते हुये कहा 'आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई।'

मैं बोला 'आपके दर्शनों की बहुत दिनों से इच्छा थी।'

प्रसाद जी ने कहा'बड़ी कृपा हुई आपकी।'

अब मानों कोई बात ही नहीं रह गई थी करने के लिए। मैं चुप बैठा रहा।

प्रसाद जी फिर बोले 'मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?'

फिर मुझे बोलने का बल मिला। मैंने कहा, 'मैं कालेज में पढ़ता हूँ—इण्टरमीजियेट में।'

प्रसाद जी चाव से सुनने लगे, किन्तु मै चुप हो गया। अब अब क्या कहूँ, कदाचित् जो कुछ पूछना चाहता था भूल सा गया।

प्रसाद जी ने फिर मेरी सहायता की। बोले, 'आपको 'अजातशत्रु' पसन्द आया ?'

मेरी बात मानो मुझे मिल गई। मैं झट बोल उठा, 'जी हाँ, हम लोगों को 'अजातशत्रु' बहुत पसन्द है।'

फिर चुप। इस बार प्रसाद जी भी चुप रहे।

मैंने साहस करके "अजातशत्रु' की प्रति में वह स्थल खोल लिया जिसके पूछने के बहाने मै प्रसाद जी के निकट आ सका था।

प्रसाद जी की ओर पुस्तक बढ़ाते हुये मैंने कहा, 'किंतु प्रसाद जी, इस कविता की यह पंक्ति जरा मेरी समझ में नहीं आई। मैं समझता हूँ...'

उन्होंने पुस्तक ले ली तथा कविता को पढ़ते हुये कहा 'लाइये देखूं।'

मैंने झट से पुस्तक उनके हाथ में दे दी। प्रसाद जी कविता को आद्योपांत पढ़ते हुये बोले, 'इसमें क्या कुछ आपकी समझ में नहीं आया ?'

मैंने झट से "नग्न विकलता' की ओर सकेत करते हुये अपना छोटा सा भाषण दे डाला।

कहने को तो मैं कह गया, किन्तु फिर सोचने लगा कि कहीं प्रसाद जी बुरा तो नहीं मान गये ? नाराज तो नहीं हो गये ?

किन्तु प्रसाद जी मेरा भाषण बड़े ध्यान से सुनकर कदाचित् कविता के अर्थ पर ही गौर कर रहे थे। मैं चुपचाप बैठा रहा।

थोड़ी देर बाद वे बड़ी-संयत सी वाणी में बोले, 'हाँ, समझ में तो कुछ मेरी भी नहीं आ रहा है। चेष्टा करके देख रहा हूँ।'

और वे फिर कविता पढ़ने लगे। मैं आश्चर्य के साथ उनके चेहरे की ओर देखने लगा। प्रसाद जी क्या कह रहे हैं ? क्या अपनी ही कविता का अर्थ नहीं समझ पा रहे हैं ? आश्चर्य !

प्रसाद जी कई मिनट तक उसका अर्थ निकालने में कदाचित् संलग्न रहे। न जाने क्यों अब मुझे कुछ प्रसन्नता सी हो रही

थी । मैं कदाचित् यह सोच कर प्रसन्न हो रहा था कि मैं भी कुछ बुद्धि रखता हूं । इतने बड़े कवि की गलती आखिर मैंने ही ढूंढ़ कर निकाली । मैं यह आशा कर रहा था कि अब प्रसाद जी कहने ही वाले हैं कि वह प्रयोग मैंने गलत और निरर्थक ही किया है।

किंतु प्रसाद जी बोले 'भाई समझ में तो मेरी भी नहीं आ रहा है । कवि के भावों को समझ लेना कुछ साधारण बात नहीं है । न जाने किस प्रस्तुत भाव का स्पष्टीकरण कवि ने इस विशेषण द्वारा किया है । मैं समझने की चेष्टा करूंगा और यदि समझ में आ गया तो आप को लिख दूंगा '

महान् आश्चर्य । प्रसाद जी क्या कह रहे हैं ? क्या यह कविता किसी और व्यक्ति की लिखी हुई है ?

मैं कह ही पड़ा, 'किन्तु यह कविता तो आप ही ने लिखी है ?

प्रसाद जी बोले, 'यह तो ठीक है किन्तु...'

और वे धीरे से मुस्करा दिये । उन्होंने पुस्तक बन्द करके मेरी ओर बढ़ा दी।

थोड़ी देर बाद मैं उन्हें प्रणाम करके चल दिया । प्रसाद जी मेरे लिए एक पहेली—सी बनकर रह गए । किन्तु आज मैं प्रसाद जी की मुस्कान की उस गंभीरता को समझ गया हूँ । कवि प्रसाद ने जो कुछ लिखा था उसे प्रसाद जी मुझे समझा ही सकते ऐसी तो कोई बात नहीं थी । कवि किस अवस्था में कब—

क्या लिख जाता है उसे यदि स्वयं भी वह न समझ पा सके तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? आप. स्वयं मैं अपनी कहानी लिख जाता हूँ, लिखते समय या लिखने के पश्चात् उसका वास्तविक मूल्य समझ में नहीं आता। किन्तु आगे चलकर जब पाठक उसे पढ़कर उसकी प्रशंसा करने लगते हैं तो अपनी लेखन-शक्ति पर स्वयं अपने को आश्चर्य—सा होने लगता है। इसी प्रकार कविता लिखते समय कवि भावनाओं से ओत प्रोत तथा कल्पना के ऊंचे मंच पर खड़ा रहता है। उसे स्वयं समझ सकना कठिन हो जाता है कि वह किन भावनाओं में बहकर इतने ऊंचे स्तर की कविता लिख सका।

प्रसाद जी के व्यक्तित्व का मुझ पर जो प्रभाव पड़ा वह वास्तव में मेरी रुचि पर अपनी एक छाप—सी छोड़ गया। यद्यपि प्रसाद जी के शरीर की रूप-रेखा सुन्दर होते हुए भी असाधारण न थी, किन्तु उन्हें देखकर उनके प्रति श्रद्धा या आदर के भाव उमड़ने लगते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि वे स्वयं वास्तविकता की मूर्ति थे। उनमें बनावटीपन या नकलीपन का आभास भी खोजने पर न मिल सकता था। प्रत्येक व्यक्ति से, चाहे वह किसी भी श्रेणी का हो, वे बड़ी आत्मीयता के साथ बात करते थे। उनके रहन-सहन, बात चीत और व्यवहार में सुरुचि के दर्शन होते थे। साहित्य को उन्होंने कभी धनोपार्जन का साधन या माध्यम नहीं समझा।

श्री जयशकर 'प्रसाद' साहित्यकार की परिभाषा को पूर्णरूप से चरितार्थ करते थे। वे कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, नाट्यकार, आलोचक तथा साहित्य के प्रत्येक अंग के सृजन की क्षमता रखते थे। कुछ लोगों की धारणा है कि उन्होंने कविता में

उनकी बातें सुन रहा था।

पत्थर की गोलमेज के इर्द गिर्द हम लोग बैठ गये। बैठते ही उन्होंने श्री यशोविमलानन्द से मेरा परिचय पूछा।

मेरा परिचय जानकर उन्होंने ऐसी मुद्रा प्रकट की मानों वे मेरे नाम से कुछ परिचित ही सी हैं।

लगभग डेढ़ घन्टे तक वे ऐसी आत्मीयता तथा सहृदयता के साथ हम लोगों से बात करती रहीं कि हम लोग कहीं जाना-आना भी भूल गये। श्रीमती महादेवी वर्मा को हिन्दी के लेखकों की बड़ी चिन्ता रहती है। 'किस प्रकार उनकी दशा सुधरे, उनकी आर्थिक समस्या हल हो तथा उन्हें उचित सम्मान मिले ?' इसी बात की चिन्ता उन्हें घेरे रहती है। लेखकों की करुण कथायें कहते-कहते उनका हृदय भर सा आता है।

हम लोगों से भी इसी विषय पर ही उनसे बात होती रही। उनका विश्वास है कि सरकार द्वारा लेखकों का कष्ट दूर होना असम्भव सा है। जब तक जन साधारण में उनकी कृतियां पढ़ने का चाव उत्पन्न न हो तब तक अभी दशा सुधरने का कोई साधन नहीं है। उनकी बातें बड़ी प्रभावोत्पादक रहीं।

मैंने कहा 'आप एक बार कानपुर पधारिये।'

हंसकर उन्होंने कहा 'कानपुर की दलबन्दी से मैं घबड़ाती हूँ। वहां बड़ी जल्दी लोग लड़ने लगते हैं।'

कहकर वे जोर से हंस पड़ीं।

मैंने कहा 'ऐसी बात नहीं है। यदि आप पधारें तो हम लोग आपके सम्मान का उचित प्रबन्ध करेंगे।'

श्री यशोविमलानन्द ने साहित्यकार संसद की बात चलाई।

श्री महादेवी वर्मा ने कहा 'यदि संसद के लिये आप लोग कुछ दिलवायें तो मैं कानपुर आऊं'।'

मेरी ओर देखते हुए श्री यशोविमलानन्द ने कहा 'यदि कानपुर में संसद की ब्रांच स्थापित की जाय तो कैसा रहे ?'

मैंने उनसे सहमत होकर कहा 'हां, यह बड़ा अच्छा रहेगा। कानपुर में संसद की ब्रांच खोल देना कोई कठिन बात नहीं है।'

श्री यशोविमलानन्द ने कहा 'और उसका उद्‌घाटन महादेवीजी के द्वारा ही हो।'

हंसकर श्रीमती महादेवी वर्मा ने कहा 'मैं इस प्रस्ताव को स्वीकार करती हूं। यदि आप संसद की ब्रांच खोलेंगे तो मैं उद्‌घाटन करने आ जाऊंगी, किन्तु आप लोगों को संसद को पार्टी-बन्दी से मुक्त रखने की चेष्टा करनी पड़ेगी।

हम लोग जाने के लिये प्रस्तुत हुये। महादेवीजी ने हम लोगों को बिठलाते हुये कहा 'वाह, आप लोग अभी से चल दिये, अभी आप लोगों के लिये कुछ चाय नाश्ते का प्रबन्ध तो हुआ ही नहीं।'

महादेवीजी के अनुरोध पर हम लोग फिर बैठ गये। थोड़ी ही देर में चाय-नाश्ते के सामान से वह गोल मेज सज गई। हम लोगों ने महादेवीजी के साथ चाय पी।

उन्होंने शिक्षा-मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद से एक बार संसद के सम्बन्ध में मिलने की एक बड़ी मनोरंजक घटना हम लोगों को सुनाई।

अन्त में हम चल दिये।

श्रीमती महादेवी वर्मा की इस भेंट का मुझ पर जो प्रभाव

पड़ा वह अमिट है। उनकी जैसी सहृदयता तथा आत्मीयता मैंने बहुत कम व्यक्तियों में देखी। ऐसा प्रतीत होता था कि इस एक भेंट ही में मैं उनके बहुत निकट हो गया हूं। उनको देखकर हृदय में एक पुनीत भावना उत्पन्न होती है, उनके प्रति सम्मान साकार रूप धारण कर लेता है तथा श्रद्धा की लहरें उनका अभिनन्दन करने लगती हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा जन्मजात कवियित्री हैं; हिन्दी संसार को उन पर गर्व है।

पं० सुमित्रानन्दन पंत

सन् १६२६ के लगभग मैं इंटरमीडियेट में पढ़ता था। उन दिनों कानपुर कवि सम्मेलनों का अड्डा सा बना हुआ था। साथ ही साथ कवियों में खूब दलबन्दी भी चला करती थी। किसी भी प्रकार का समारोह हो कवि सम्मेलन का पुट रहना आवश्यक सा रहता था। एक दल के नेता थे कवि सम्राट सनेही जी' तथा दूसरे दल के सचालक थे प्रोफेसर रामाज्ञाद्विवेदी ' समीर '। कभी कभी तो कवियों क. दलों में गाली गलौज की नौबत आ जाती थी।

हम लोग अपने स्कूल के पूर्व छात्र-सम्मेलन के अवसर पर भी एक विराट कवि सम्मेलन की योजना बनाने लगे। मेरे साथियों में थे 'वीणा' के सम्पादक पंडित कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' तथा 'चांद' के भूतपूर्व सहकारी सम्पादक श्रीदेवीदत्त मिश्र बी० ए०, एल० एल० बी०। अंत में कवि-सम्मेलन का होना निश्चित कर दिया गया। बाहर के कवियों में

श्रीमती महादेवी वर्मा तथा प० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' को आमंत्रित करने की बात तय की गयी।

मैंने राय दी 'यदि पंतजी को आमंत्रित किया जाय तो कैसा रहे ?'

कुसुमाकरजी ने कहा 'मुझे कोई आपत्ति नहीं यदि पंतजी आना स्वीकार करें।'

मैं पंतजी की कवितायें पढ़-पढ़ कर उनका भक्त सा हो गया था। पंतजी को कवि-सम्मेलन में बुलाने की उतनी इच्छा नहीं थी जितनी उन्हें देखने की। इतनी सुकुमार भावनायें इतनी सुकोमल भाषा में व्यक्त करने वाले पं० सुमित्रानन्दन पंत को एक बार देखने तथा उनसे बात करने के लिये किसका जी न चाहेगा ? मैं ऐसा सुयोग देखकर उनसे मिलने की कामना करने लगा।

प्रश्न हुआ 'पंतजी को कौन ला सकता है ?'

यद्यपि इसके पूर्व न तो कभी मैं प्रयाग गया ही था और न इतने सुप्रसिद्ध साहित्यकार से कभी मिला ही था फिर भी बोल उठा 'मैं चेष्टा कर सकता हूँ।'

अंत में मुझे ही प्रयाग भेजने का निश्चय किया गया। दूसरे दिन अपने एक सहपाठी तथा स्व० राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के वंशधर राय गोपीचन्द को साथ लेकर मैं प० सुमित्रानन्दन पंत से मिलने के लिये प्रयाग चल दिया।

राय गोपीचन्द बड़े हँसमुख और मिलनसार थे। रेल में मैंने उनसे कहा 'क्योंजी, पंतजी से कैसे मिलना होगा ?'

उनसे मिलने में क्यों घबड़ा रहे हो ? उनकी शकल-सूरत

तो औरतों की भी है।'

मैं उनकी ओर आश्चर्य के साथ देखता हुआ बोला 'तुमने इन्हें कब देखा ?'

वे उसी प्रकार हँसते हुये बोले 'इन्हें नहीं देखा तो क्या हुआ ? इनका चित्र तो देखा है।'

मैं थोड़ी देर चुप रहकर बोला 'कवि लोग प्राय स्त्रियों की सी सूरत बनाये रखने में कोमल भावनाओं की रक्षा समझते हैं। कदाचित पंतजी इस परम्परा की रक्षा करने के कारण ही इस वेश में रहते हों।'

राय गोपीचन्द हँसते हुये बोले 'और अपने शहर के सनेहीजी कोमल भावनाओं की रक्षा कैसे करते होंगे ?'

मैं बात काटकर बोल उठा 'उनकी बात और है। पंतजी तो बिल्कुल भिन्न धारा के कवि हैं। इनका तो जन्म ही मानों सुकोमल भावनाओं के बीच हुआ है। वे कैसे होंगे इसका तो अनुमान ही नहीं लगा पाता हूँ।'

राय गोपीचन्द बोले 'निस्सदेह पंतजी की भावनाओं में सुकोमलता निखरी सी पड़ती है। उनकी भाषा कितनी मधुर और ग्राह्य है।'

मैं थोड़ी देर तक चुप रहकर बोला 'मगर उनसे मिला कैसे जाय यह भी एक प्रश्न है।'

हँसते हुये राय साहब ने कहा 'तुम भी अजब आदमी हो। वैसे ही उनसे मिला जायगा जैसे आदमी आदमी से मिलता है। किसी से मिलने में भी आप इतना घबड़ाते हैं ?'

मैं बोला 'सब आदमी और पंतजी क्या बराबर हैं ?'

प० सुमित्रानन्दन पंत

गोपीचन्द ने कहा 'तो फिर पंतजी क्या देवता या अप्सरा हैं? वे भी तो हमारी और तुम्हारी तरह आदमी ही हैं।'

मैं चुप हो रहा। वास्तव में मैं पंतजी को आदमी से ऊंचा ही समझता था। गोपीचन्द की बातों से मेरी उस श्रद्धा में किसी भी प्रकार का धक्का न लगा। पंतजी को देखने की मेरी उत्कंठा में किसी भी प्रकार की कमी न हुयी।

प्रयाग पहुंचे। उस समय श्री सुमित्रानंदन पंत स्टेनलीरोड पर रहते थे। हम लोग पता लगाते-लगाते उनके घर पर पहुँच गये। किसी भी प्रकार की असुविधा न हुई।

एक नौकर ने हम लोगों को कमरे में बिठलाते हुये कहा 'आप लोग बैठ जाइये।'

कमरा भी कदाचित् मुझ पर अपना प्रभाव डाले बिना न रह सका। साफ-सुथरा तथा उन्हीं वस्तुओं से पूर्ण था जो प्रायः एक कलाकार पसन्द करता है। दीवार पर एक ओर कुछ कपड़े टंगे हुये थे। मेज पर किसी विदेशी कवि का चित्र शीशे के फ्रेम में मढ़ा हुआ रखा था।

हम लोगों को अधिक देर न बैठना पड़ा। एक सुन्दर सी आकृति की सौम्य मूर्ति ने हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। हम उन्हें देखते ही समझ गये कि ये ही पं० सुमित्रानंदन पंत हैं। ऊंचा मझोला डील-डौल, एकहरा बदन, बड़े बड़े पीछे की ओर झुके हुये घुंघराले से बाल, चेहरे पर एक अपूर्वत्व तथा गंभीरता।

हम लोग उठकर खड़े हो गये।

पंतजी ने हम लोगों को बिठलाते हुये कहा 'कहिये क्या

पं० सुमित्रानन्दन पंत

आशा है ?'

मैं तो मौन सा होकर रह गया था। एकटक पंतजी की ओर देखकर मैं कदाचित उनकी तुलना अपनी कल्पना के श्री सुमित्रानन्दन पंत से कर रहा था। कितनी समानता थी दोनों में।

मुझे चुप देखकर राय गोपीचंद ने कहा 'हम लोग कानपुर से आये हैं।'

पंतजी अपनी सुकोमल वाणी में बोले 'अच्छा। आप लोगों से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुयी।'

हम लोग चुप थे। पंतजी हम लोगों की ओर इस प्रकार से देख रहे थे मानो वे शीघ्र ही हम लोगों का प्रयाग आने का अभिप्राय जानना चाहते हैं।

हम इस भाव को हृदयगम करते ही बोल उठे 'हम लोग कानपुर में एक विराट कवि सम्मेलन का आयोजन कर रहे हैं।'

पंतजी तुरन्त बोल उठे 'बड़ी प्रसन्नता की बात है।'

मैं रुककर राय गोपीचन्द की ओर देखने लगा। 'तब क्या सभी कुछ मैं ही कहूं ? ये अब क्यों नहीं बोलते ?'

मैं तो पंतजी से बात करने की अपेक्षा उन्हें अपलक नयनों से थोड़ी देर तक देखते रहना चाहता था।

पंतजी मेरी ओर गौर से देख रहे थे। कदाचित वे जानना चाहते थे कि फिर मेरे पास क्या कहने के लिए आये हो ?

अन्त में मुझे बोलना ही पड़ा 'हम लोग चाहते हैं कि आप . .. ..

बात पूरी करने के पहिले ही कदाचित पंतजी हमारा

मोनियम उठा लेते थे और नवीन जी अपनी लयमय कविताओं को सुन्दर स्वरों में गाकर सरसता की सरिता बहा देते थे। उनके प्रत्येक शब्द में वेदना, पीड़ा, निवेदन, आमंत्रण तथा करुणा की पुकार सुनकर विनोदी कौशिक प्रायः ठहाका लगाकर कह दिया करते थे कि:

इश्क ने बेकार इनको कर दिया
वरना ये भी आदमी थे काम के।'

कौशिक जी को राजनीति में भाग लेना अच्छा न लगता था। वे कह दिया करते थे कि 'राजनीति इनके मान का रोग नहीं है। इतने रसिक, सरस और विनोदी व्यक्ति के गले में राजनीति क्यों उलझ गयी आकर।'

नवीन जी इस बात से सहमत हैं। वे राजनीतिज्ञ होने की अपेक्षा साहित्यकार ही बने रहना अधिक पसन्द करते हैं। इस समय केन्द्रीय धारासभा के सदस्य होने के नाते वे राजनीति में अधिक फंस गये हैं, किन्तु वे शीघ्र ही छुटकारा पाने के प्रयत्न में हैं।

कुछ मास पूर्व इन पंक्तियो के लेखक ने दिल्ली में उनसे भेंट की थी। उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया था कि 'मैं राजनीति से पृथक होने के प्रयत्न में हूँ। साहित्य ही मुझे जीवित रख सकता है, राजनीति नहीं। निकट भविष्य में ही मैं कुछ रचनाएं तैयार करना चाहता हूँ जो हिन्दी—संसार में अमर रहें तथा मुझे भी अमर बना सकें।'

पं० बालकृष्ण शर्मा के सम्बन्ध में अभी कुछ और कहना शेष रह गया है। वे महान् तथा बड़े अच्छे मित्र हैं। वे प्रत्येक

---

० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

व्यक्ति के कष्टों के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति रखते हैं। इसके कारण वे कभी कभी जन-साधारण द्वारा आलोचन की वस्तु बन जाते हैं। अपराधी को क्षमा कर देने की प्रवृति कभी कभी उनकी सार्वजनिक प्रतिष्ठा को गहरा धक्का भी पहुँचा देती है। वे विविश हैं, क्योंकि उनका कवि-स्वभाव ही इसका उत्तरदायी है।

नवीनजी का अध्ययन अपरिमित है, संसार की सभी भाषाओं के साहित्य का उन्होंने थोड़ा बहुत अध्ययन किया है। उनकी हिन्दी अत्यन्त ही परिमार्जित और उच्चकोटि की है। गद्य और पद्य दोनों पर ही उनका समान रूप से अधिकार है। बातचीत की भाषा भी उनकी बड़ी सुन्दर और सुकोमल है। वे प्रायः बोलचाल में भी हिन्दी के शब्दों का प्रयोग करते हैं।

पं० बालकृष्ण शर्मा में कुछ कमजोरियां भी हैं। उनकी मानवता, सरसता तथा उदार प्रवृत्ति कभी कभी दूसरों के लिये वरदान सिद्ध होकर स्वयं उनके लिये अभिशाप बन जाती है। मित्र की अपेक्षा प्राय शत्रु के लिये वे अधिक लाभकारी सिद्ध होते हैं। उनकी इन प्रवृत्तियों के कारण बहुधा अनुपयुक्त व्यक्तियों को आगे बढ़ने में आश्रय मिल जाता है।

प० महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम मेरे लिये बाल्यकाल ही से आकर्षक हो उठा था। जहां तक मुझे स्मरण है उस समय मैं एक हिन्दी स्कूल की कक्षा चार का विद्यार्थी था। उन दिनों 'सरस्वती' ही एक मात्र साहित्यिक पत्रिका थी और मैं उसे बड़े मनोयोग से पढ़ता था। पत्रिका में प्रकाशित अन्य साहित्यिक निबन्धों की ओर, तो मेरी विशेष अभिरुचि थी नहीं केवल कहानियां ही बड़े चाव के साथ पढ़ा करता था। हां, मुख्य पृष्ठ पर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम पढ़कर मैं उन्हें आवश्यकता से अधिक आदरणीय और कुछ अलभ्य 'सा समझता रहता था।

ज्यों-ज्यों साहित्य की ओर मेरी अभिरुचि बढ़ती गयी त्यों-त्यों आचार्य द्विवेदी के प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ती गयी। धीरे-धीरे मैं भी कहानी लिखने का प्रयास करने लगा। किन्तु शीघ्र ही मैंने अनुभव किया कि इसमें मुझे सफलता मिलना कठिन है। मैं

प्रयत्न करने पर भी सुन्दर कहानी न लिख सका। अन्त में इस मार्ग को छोड़कर कवितायें लिखने लगा। तीन-चार कविताएं, स्थानीय पत्रों में प्रकाशित हो जाने के पश्चात् मैंने एक कविता 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आचार्य द्विवेदी के पास भेज दी। मुझे पूर्ण आशा थी कि मेरी कविता 'सरस्वती' में अवश्य प्रकाशित होगी किन्तु कई मास तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् भी जब कविता 'सरस्वती' में न देख पड़ी तो मैं निराश हो गया। यद्यपि आचार्य द्विवेदी के प्रति मेरी निष्ठा में किसी भी प्रकार की कमी न हुई थी फिर भी मैंने सोचा कि द्विवेदी जी अपने जान-पहिचान वाले कवियों की ही कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित करते होंगे।

अब इस बात की चिन्ता हुई कि आचार्य द्विवेदी से किस प्रकार जान-पहचान हो। यदि वे कानपुर में रहते होते तो कार्य कुछ सरल था किन्तु प्रयाग तो उस समय तक मैं कभी गया भी न था। फिर प्रयाग तक जाने के, अपने पास कुछ साधन भी न थे। निराश तो हुआ किन्तु अवसर की खोज में निरन्तर लगा ही रहा। सोचा कभी न कभी ऐसा अवसर आकर ही रहेगा।

सन् १९२५ के लगभग मेरी जान-पहिचान स्व० विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' से हुई। वे आचाय द्विवेदी के परम भक्तों में से थे। उन्हो ने मुझे बताया कि किस प्रकार आचार्य द्विवेदी से प्रोत्साहन पाकर वे सरलता—पूर्वक सुन्दर कहानियां लिखने लगे। उन्होंने यह भी बतलाया कि द्विवेदी जी सदा नये लेखकों को उत्साहित करते रहते हैं। उनकी सदैव यही इच्छा रहती है कि नये नये साहित्यकार इस क्षेत्र में आयें और उन्हें

प्रोत्साहन दिया जाय।

मैं एकाएक कौशिक जी की बातों का विश्वास करने के लिये तैयार न था। मेरे साथ जो व्यवहार द्विवेदी जी ने किया था वह कौशिक जी के कथन को परिपुष्टि न करता था। जो कुछ भी हो, मैं यह बात मुक्तकंठ से कहने को तैयार था कि द्विवेदी जी से किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन मुझे नहीं मिला। यदि मेरी कविता प्रकाशन के अयोग्य थी तो कम से कम द्विवेदी जी को मुझे कुछ आदेश तो देना ही चाहिये था। फिर 'निज कविता केहि लाग न नीका' मैं अपनी कविता इतनी निस्सार मानने को भी तैयार न था। अस्तु—

उन दिनों मैं प्रायः हिन्दी जगत के सुपरिचित कवि पंडित जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' के यहां बैठा-उठा करता था। यहां बहुत से साहित्यकार प्रायः आया जाया करते थे और साहित्य-चर्चा भी हुआ करती थी। हितैषी जी मिलनसार व्यक्ति हैं। उनके संबन्ध में कुछ लोग सदा यह धारणा फैलाते रहे हैं कि वे स्वाभाव के असहिष्णु हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति से लड़-झगड़ पड़ते हैं। मुझे आश्चर्य है कि मैंने हितैषी जी को सदैव सुलझे मस्तिष्क का तथा मानवता के बहुत ही निकट पाया। मेरा और उनका गत २५ वर्षों से घना परिचय है किन्तु मैंने कभी उनमें असहिष्णुता या असभ्यता के दर्शन नहीं किये। हां, अव्यवहारिकता और अभद्रता उन्हें सह्य नहीं है। वे वेतुकी बात पर शीघ्र ही क्रुद्ध हो उठते हैं। यह तो एक महान गुण है।

एक दिन हितैषी जी किसी कार्यवश उठकर चले गये किन्तु

मैं उनके कमरे में बैठा 'साहित्यालोचन' पढ़ता रहा। थोड़ी ही देर में एक वयोवृद्ध सज्जन ने आकर पूछा 'जगदम्बाप्रसाद मिश्र हैं ?'

मैंने उन्हें सिर से पैर तक देखा। आकृति कुछ पहिचानी सी ज्ञात हुयी। मैंने कहा, 'बैठिये। अभी थोड़ी देर में हितैषी जी आ जायंगे।'

किन्तु वह बैठे नहीं। मैंने थोड़ी देर बाद फिर उनसे कहा 'आप बैठ जाइये।'

वे जाने का उपक्रम करते हुए बोले 'मैं जा रहा हूँ। फिर उनसे भेंट कर लूंगा। कह देना महावीर आये थे।'

और वे चले गये। हितैषीजी के आने पर मैंने उन्हें बतला दिया कि अमुक सज्जन आये थे।

हितैषीजी पहिले तो कुछ गम्भीर हुए फिर मुसकुराकर बोले 'जानते हो वे कौन थे ?'

मैंने साधारण रूप से कह दिया 'नहीं।'

हितैषी जी बोले 'वे आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे।'

'ऐं'! कहकर मैं हितैषीजी के मुंह की ओर देखने लगा। मैंने द्विवेदीजी का चित्र देखा था अतएव तभी मुझको उनकी आकृति पहिचानी सी मालूम पड़ रही थी। मैं सोचने लगा 'यह तो अच्छा-खासा अवसर हाथ में आकर निकल गया। यदि जान पाता तो—

जो कुछ भी हो आचार्य द्विवेदी की इस भेंट ने ही मुझ पर अच्छा-खासा प्रभाव डाला। उनकी सादगी, उनका व्यवहार और उनका बात करने का ढंग सभी कुछ तो मिलने वाले पर

अपना प्रभाव डालते थे। उनमें अभिमान तो छू नहीं गया था। वे आत्म-विज्ञापन से तो दूर भागते थे जैसा कि उनके वाक्य 'महावीर आये थे' से स्पष्ट होता है। भरा हुआ चेहरा, साधारण सा स्थूल शरीर, बड़ी बड़ी मूछें, अच्छा कद, मेधावी सा मस्तिष्क तथा गंभीर आकृति के आचार्य द्विवेदी कभी भुलाये जाने वाले व्यक्ति न थे। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता था।

× × ×

दूसरी बार मेरी भेंट उनसे उस समय हुई जब वे 'सरस्वती' से अवकाश ग्रहण कर कानपुर के जूही मुहल्ले में रहते थे। उस समय वे रुग्ण थे तथा साहित्यिक जीवन से पृथक थे। मैं प० विशम्भरनाथ शर्मा कौशिक के साथ ही उन्हें देखने गया था। कौशिक जी ने उन्हें मेरा परिचय बहुत बढ़ा चढ़ा कर दिया था। वे लेटे ही लेटे बोले भाषा की ओर आपको अधिक ध्यान देना चाहिये।'

'जी' कह कर मैं चुप हो गया।

उन्होंने बड़े धीमे स्वर में पूछा 'कहानियां लिखते हो ?'

मैंने उत्तर दिया 'जी नहीं। मैं तो कवितायें लिखता हूँ। कहानी लिखने की भी चेष्टा कर रहा हूं।'

वे कुछ मुसकुराकर बोले 'विशम्भर के साथ रहकर कहानीकार बन जाना कठिन बात तो नहीं है।'

मैं कह उठा 'आपका आशीर्वाद भी तो चाहिये।'

द्विवेदीजी ने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाकर मौन आशीर्वाद से मुझे कृतकृत्य किया।

और—

इन्हीं के आशीर्वाद से मैं कहानीकार बन गया।

[२]

प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी को आधुनिक रूप दिया। वे भाषा में एकरूपता पसन्द करते थे। उनके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' ने हिन्दी साहित्य का निर्माण किया है। उस समय या उससे पूर्व हिन्दी की कोई भी साहित्यिक पत्रिका न थी।

द्विवेदी जी ने न जाने कितने साहित्यकारों का पथ-प्रदर्शन किया जो आज हिन्दी के निर्माता और प्रमुख साहित्यिक व्यक्ति माने जाते हैं। उन्होंने लेखक, कवि कथाकार तथा आलोचक सभी को मार्ग दिखलाया। इस प्रकार उन्होंने एक हेय और नगण्य भाषा को वह सम्मानपूर्ण पद प्रदान किया जो आज देश की किसी भी भाषा को प्राप्त नहीं है। आज उनके द्वारा बताये हुये माग पर ही चल कर हिन्दी इस महान देश की राष्ट्र-भाषा बन गयी है।

द्विवेदीजी की स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र थी। पत्र का उत्तर वे अवश्य देते थे। किसी से वादा करके वे कभी भूलते न थे तथा एक बार जिसके सिर पर हाथ धर देते थ उसे सिंहासन पर बैठालकर ही छोड़ते थे।

सन् १६३७ में मैंने एक मासिक पत्रिका 'सती' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। प्रथम अंक ही मैंने आचार्य द्विवेदी के पास उनके गांव दौलतपुर भेजा। उस समय वे बहुत बीमार थे

तथा कुछ लिखते पढ़ते न थे। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ जब एक सप्ताह के भीतर ही उनका पत्र मेरे पास आ गया। इस पत्र में उन्होंने हमारे साहस की प्रशंसा करते हुए पत्रिका को आशीर्वाद दिया था।

जब तक इस देश में एक भी हिन्दी-भाषा-भाषी रहेगा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी अमर रहेंगे।

—

श्रीमती महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रथम दर्शन मुझे लगभग सन १९२४ में हुये थे जब वे प्रयाग के क्रासवेट गर्ल्स कालेज में पढ़ती थीं। कानपुर की ओर से मैं उन्हें एक कवि-सम्मेलन में आमन्त्रित करने गया था।

कालेज के प्रिंसिपल के द्वारा श्रीमती महादेवी वर्मा से भेंट हुई। मैंने उनके सामने कवि-सम्मेलन का निमन्त्रण रक्खा, किन्तु उन्होंने जाने में असमर्थता प्रकट की। हम लौट आये।

मेरे साथ राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के वंशज तथा मेरे सहपाठी राय गोपीचन्द थे।

जब बाहर आये तो उन्होंने एक हलकी सी सांस लेकर कहा 'इनकी *Personality* कुछ नहीं है।'

मुझे कुछ हँसी आ गई। मैं बोला 'इससे तुम्हारा अभिप्राय ?'

वे बोले कविमें एक असाधारण *Personality* होना चाहिए। इनमें मैंने वह बात नहीं पाई।

मैं हँस कर बोला 'तुम भी खूब हो। यदि किसी म *Personality* न हो तो क्या वह ऊँचे स्तर का कवि हो ही नहीं सकता ?'

वे विद्वानों की भाँति धीरे धीरे सिर हिलाते हुए बोले 'यह बात नहीं है। कवि में एक प्रकार की *Born Personality* होती है, बिना उसके वह जँचता नहीं है।'

मुझे उनकी बातों में आनंद आ रहा था। मैंने कहा 'तो आपका कहना यह है कि श्रीमती महादेवी वर्मा में उस *Personality* का अभाव है जो एक कवि में होनी चाहिए।'

वे बोले 'निश्चय ही।'

मैंने उनका मज़ाक सा उड़ाने की नीयत से कहा 'कहीं आपको यह तो सदेह नहीं है कि जिनसे हम अभी मिल कर आये हैं वे श्रीमती वर्मा ही हैं या नहीं।'

वे बोल उठे—'भाई, मेरा तो जी नहीं भरा।'

अब मैं अपनी हसी न रोक सका। वे कुछ बिगड़ कर बोले 'तो मैं क्या कुछ गलत बात कर रहा हूं ?'

मैंने हँस कर उत्तर दिया 'मैं क्या कह रहा हूँ कि आपका दृष्टिकोण गलत है। बात यह है। कि तुम अभी श्रीमती महादेवी वर्मा और कवि-हृदय को भली भाँति समझ नहीं सकते।'

वे कुछ नाराज होकर बोले 'हो सकता है। कदाचित कवियों को पहिचानने का ठेका तुम्हीं ने ले रखा हो।

❀ ❀ ❀ ❀

श्रीमती महादेवी वर्मा पर हिन्दी संसार को गर्व है। उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे हिन्दी का मस्तक ऊँचा हुआ है।

भी करना चाहता हूँ।'

हम दोनों श्रीमती महादेवी वर्मा के बँगले पहुँचे। ड्राइङ्ग रूम के द्वार पर एक बुढ़िया बैठी हुई थी। ठाकुर साहब ने उससे पूछा 'देवी जी हैं ?'

बुढ़िया बोली 'अन्दर हैं।'

ठाकुर साहब ने उससे सूचना देने को कहा। बुढ़िया अन्दर गई तथा थोड़ी देर में वापिस आकर बोली 'देवी जी नहा रही हैं, बैठिये।'

हम लोग बैठे रहे। कमरे की सामने की दीवार के बीचो बीच शीशे की अलमारी में कृष्ण भगवान की एक ऊंची सी भव्य प्रतिमा खड़ी हुयी थी। इस कलात्मक प्रतिमा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई।

हम लोग लगभग पौन घंटे बैठे रहे। मैंने ठाकुर साहब से कहा 'बड़ी देर हुई।'

ठाकुर साहब ने बुढ़िया से फिर कहा 'देवी जी स्नान कर चुकीं ?'

बुढ़िया ने कहा 'अब आराम कर रहीं हैं।'

मुझे बड़ा बुरा लगा। इतने ऊँचे स्तर के कवि की यह सहृदयता?

हम लोग लौट आये।

❀ ❀ ❀ ❀

मैंने फिर कभी श्रीमती महादेवी वर्मा से मिलने की इच्छा नहीं की। मुझे उस दिन की बात भूली नहीं।

इधर मेरे मित्र श्री यशोविमलानंद जी ने मुझसे कहा आपका

श्रीमती महादेवी वर्मा से परिचय है'

मैंने नकारात्मक ढङ्ग से सिर हिला दिया।

श्री यशोविमलानंद ने कहा 'चलिये, एक दिन आपका उनसे परिचय करा दूं।'

मैं चुप रहा।

श्री यशोविमलानंद ने कहा 'महादेवी जी बड़ी मिलनसार हैं। आप उनसे मिलकर बड़े प्रसन्न होंगे।'

※ ※ ※ ※

थोड़े ही दिनों बाद मैं श्री यशोविमलानद के साथ प्रयाग गया। मुझे लीडर प्रेस के श्री वाचस्पति पाठक से मिलना था।

ट्रेन ही में श्री यशोविमलानंद जी ने कहा 'सबसे पहिले महादेवी जी से मिलेंगे।'

मैंने कह दिया 'हाँ, किन्तु मुझे इंडियन प्रेस में श्री देवीदयाल चतुर्वेदी से अवश्य ही मिलना है।

कुछ सोचकर यशोविमलानंद ने कहा 'पहिले बच्चनजी के यहाँ चलेंगे और उसके बाद महादेवी जी के यहाँ। उनसे मिलने के पश्चात् हम लोग चतुर्वेदी जी के यहाँ चले चलेंगे।

मैं बोला 'ठीक है। मैं चतुर्वेदी जी के यहाँ ही ठहरूंगा।'

बच्चन जी से भेंट करने के पश्चात् हम लोग महादेवी जी के यहाँ पहुँचे। उनसे मिलने का किसी प्रकार का उत्साह मेरे हृदय में न था। मैंने सोचा कि यदि भेंट हो गई तो मैं सिर्फ चुपचाप बैठा रहूँगा।

श्रीमती महादेवी वर्मा के बंगले पहुँचे। इस बार भी वही बुढ़िया ड्राइङ्ग रूम के बाहर बैठी मिली। उसे देखते ही श्री यशो-

इनकी कविता विगतवार के प्रति उपालंभ है; वेदना घुटकर करुणा में इतनी अधिक मात्रा में सम्मिलित हो गई है कि पाठक उसी में विभोर हो जाता है।

सन १६२६ या २७ के लगभग मैं दिल्ली से प्रकाशित होने वाले मासिक 'महारथी' में संपादक था।

मेरे साथ उस समय 'चांद' के ख्यातिप्राप्त सम्पादक पं० नन्दकिशोर तिवारी भी थे। ये श्रीमती महादेवी वर्मा के विशेष भक्तों में से हैं। श्री तिवारीजी ने 'महारथी' में प्रकाशित करने के लिए श्रीमती वर्मा से एक कविता मंगवाई थी। वह कविता 'महारथी' के मुख्य पृष्ठ पर प्रकाशित हुई थी। मुझे वह कविता इतनी पसन्द आई थी कि आज भी प्रायः मैं वही कविता गुनगुना उठता हूँ। वह कविता थी

[१]

घोर तम का अवगुंठन डाल,
छिपाया नक्षत्रों ने गात।
दूर छूटा वह परिचित कूल,
हास्य करता है झंझावात।
लिए जाते तरणी किस ओर,
अरे मेरे नाविक नादान!

[२]

हुआ है विस्मृत मानव लोक,
हुये जाते हैं बेसुध प्राण।
किन्तु तेरा नीरव संगीत,
निरन्तर करता है आह्वान।

श्रीमती महादेवी वर्मा

यही क्या है अनन्त की राह,
अरे मेरे नाविक नादान ।

श्रीमती महादेवी वर्मा की कविताओं की भाषा उनकी निज की है। मेरा तो उनकी भाषा से इतना प्रगाढ़ परिचय है कि यदि कविता के साथ उनका नाम छपने से रह जाय तो मैं बता सकूंगा कि यह कविता श्रीमती महादेवी वर्मा की ही है। इतनी मधुर, आकर्षक तथा प्रांजल भाषा कदाचित बहुत कम लोग लिखते हैं। कवि की कोमल भावनाओं से जो ममता, करुणा और टीस सी फूटी पड़ती है, वह पाठक को कवि के निकट कर देती है। श्रीमती वर्मा की कविता में भावों का सौंदर्य निखरा पड़ता है, वेदना सिसकारियाँ भरती है, करुणा व्यंजन करती है तथा कल्पना आकाश को छूती सी है।

[२]

एक बार उनसे मिलने की इच्छा हुई किन्तु मिलने का कोई साधन न था। सन् १९४८ के दिसम्बर मास में फिर एक कवि-सम्मेलन के सम्बन्ध में श्री सुमित्रानंदन पत से मिलने गया। साथ में प्रयाग महिला विद्यापीठ से संबंधित ठाकुर बरजोरसिंह भी थे।

जब श्री पंत से मिलकर लौटे तो मार्ग में ठाकुर बरजोरसिंह ने मुझसे कहा 'आपकी कभी श्रीमती महादेवी वर्मा से भेंट हुई है ?'

मैंने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाते हुए कहा 'नहीं।'

वे बोले 'चलिये, आज उनसे आपका परिचय करा दूं।'

अच्छा अवसर देखकर मैंने कहा 'चलिये। मैं उनके दर्शन

विमलानंद ने 'कहा मालूम पड़ता है कि महादेवी जी के 'अतीत के चलचित्र' की भगविन यही है।'

मैंने कहा 'हो सकता है।'

नौकर से श्री यशोविमलानन्द ने पूछा 'महादेवी जी हैं ?

उसने कहा 'अभी-अभी नहाने गई हैं।'

कुछ वर्ष पूर्व की इसी प्रकार की बात इसी स्थान पर हुई थी। मुझे यह सोचकर हँसी आ गयी।

हम लोगों ने अपने अपने नाम लिख कर नौकर के द्वारा उनके पास भेज दिये तथा ड्राइङ्ग रूम में बैठ गये।

उन्हें आने में देर लगती देख मैं फिर पुरानी बात सोचने लगा। किन्तु अधिक देर तक इस बार बैठना न पड़ा। एकाएक कमरे में पैर रखते ही महादेवी जी खिलखिला कर हँस पड़ीं तथा यशोविमलानन्द से बोलीं 'वाह भोले, तुम तो अपनी शादी तक में मुझे बुलाना भूल गये।'

कुछ शर्मा कर श्री यशोविमलानन्द ने कहा 'इसका उत्तरदायित्व तो मेरे ऊपर नहीं आता। आपको इसकी शिकायत तो पिता जी या बड़े बाबूजी से करना चाहिये।'

मैं तो एकटक महादेवीजी को देखता रह गया। इतनी हसमुख, मिलनसार, निराभिमानिनी और सहृदय वे होंगी ऐसी तो मैंने कभी कल्पना भी न की थी। कुछ मिनटों के अन्दर ही जो अमिट प्रभाव उनके व्यक्तित्व का मुझ पर पड़ा वह कल्पनातीत है।

वे कुछ देर बाद अपने हास्य, वाक्यपटुता और आत्मीयता से श्री यशोविमलानन्दजी को बनाती सी रहीं। मैं प्रसन्न मन से

उनकी बातें सुन रहा था।

पत्थर की गोलमेज के इर्द गिर्द हम लोग बैठ गये। बैठते ही उन्होंने श्री यशोविमलानन्द से मेरा परिचय पूछा।

मेरा परिचय जानकर उन्होंने ऐसी मुद्रा प्रकट की मानों वे मेरे नाम से कुछ परिचित ही सी हैं।

लगभग डेढ़ घन्टे तक वे ऐसी आत्मीयता तथा सहृदयता के साथ हम लोगों से बात करती रहीं कि हम लोग कहीं जाना-आना भी भूल गये। श्रीमती महादेवी वर्मा को हिन्दी के लेखकों की बड़ी चिन्ता रहती है। 'किस प्रकार उनकी दशा सुधरे, उनकी आर्थिक समस्या हल हो तथा उन्हें उचित सम्मान मिले ?' इसी बात की चिन्ता उन्हें घेरे रहती है। लेखकों की करुण कथायें कहते-कहते उनका हृदय भर सा आता है।

हम लोगों से भी इसी विषय पर ही उनसे बात होती रही। उनका विश्वास है कि सरकार द्वारा लेखकों का कष्ट दूर होना असम्भव सा है। जब तक जन साधारण में उनकी कृतियां पढ़ने का चाव उत्पन्न न हो तब तक अभी दशा सुधरने का कोई साधन नहीं है। उनकी बातें बड़ी प्रभावोत्पदक रहीं।

मैंने कहा 'आप एक बार कानपुर पधारिये।'

हंसकर उन्होंने कहा 'कानपुर की दलबन्दी से मैं घबड़ाती हूँ। वहां बड़ी जल्दी लोग लड़ने लगते हैं।'

कहकर वे जोर से हंस पड़ीं।

मैंने कहा 'ऐसी बात नहीं है। यदि आप पधारें तो हम लोग आपके सम्मान का उचित प्रबन्ध करेंगे।'

श्री यशोविमलानन्द ने साहित्यकार संसद की बात चलाई।

श्री महादेवी वर्मा ने कहा 'यदि संसद के लिये आप लोग कुछ दिलवायें तो मैं कानपुर आऊं।'

मेरी ओर देखते हुए श्री यशोविमलानन्द ने कहा 'यदि कानपुर में संसद की ब्रांच स्थापित की जाय तो कैसा रहे ?'

मैंने उनसे सहमत होकर कहा 'हां, यह बड़ा अच्छा रहेगा। कानपुर में संसद की ब्रांच खोल देना कोई कठिन बात नहीं है।'

श्री यशोविमलानन्द ने कहा 'और उसका उद्घाटन महादेवीजी के द्वारा ही हो।'

हंसकर श्रीमती महादेवी वर्मा ने कहा 'मैं इस प्रस्ताव को स्वीकार करती हूं। यदि आप संसद की ब्रांच खोलेंगे तो मैं उद्घाटन करने आ जाऊंगी, किन्तु आप लोगों को संसद को पार्टी-बन्दी से मुक्त रखने की चेष्टा करनी पड़ेगी।

हम लोग जाने के लिये प्रस्तुत हुये। महादेवीजी ने हम लोगों को बिठलाते हुये कहा 'वाह, आप लोग अभी से चल दिये, अभी आप लोगों के लिये कुछ चाय-नाश्ते का प्रबन्ध तो हुआ ही नहीं।'

महादेवीजी के अनुरोध पर हम लोग फिर बैठ गये। थोड़ी ही देर में चाय-नाश्ते के सामान से वह गोल मेज सज गई। हम लोगों ने महादेवीजी के साथ चाय पी।

उन्होंने शिक्षा-मन्त्री मौलाना अबुल कलाम आजाद से एक बार संसद के सम्बन्ध में मिलने की एक बड़ी मनोरंजक घटना हम लोगों को सुनाई।

अन्त में हम चल दिये।

श्रीमती महादेवी वर्मा की इस भेंट का मुझ पर जो प्रभाव

पड़ा वह अमिट है। उनकी जैसी सहृदयता तथा आत्मीयता मैंने बहुत कम व्यक्तियों में देखी। ऐसा प्रतीत होता था कि इस एक भेंट ही में मैं उनके बहुत निकट हो गया हूं। उनको देखकर हृदय में एक पुनीत भावना उत्पन्न होती है, उनके प्रति सम्मान साकार रूप धारण कर लेता है तथा श्रद्धा की लहरें उनका अभिनन्दन करने लगती हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा जन्मजात कवियित्री हैं; हिन्दी संसार को उन पर गर्व है।

पं० सुमित्रानन्दन पंत

सन् १९२६ के लगभग मैं इंटरमीडियेट में पढ़ता था। इन दिनों कानपुर कवि-सम्मेलनों का अड्डा सा बना हुआ था। साथ ही साथ कवियों में खूब दलबन्दी भी चला करती थी। किसी भी प्रकार का समारोह हो कवि सम्मेलन का पुट रहना आवश्यक सा रहता था। एक दल के नेता थे कवि-स त्राट सनेही जी तथा दूसरे दल के संचालक थे प्रोफेसर रामाज्ञाद्विवेश 'समीर'। कभी कभी तो कवियों के दलों में गाली-गलौज की नौबत आ जाती थी।

हम लोग अपने स्कूल के पूर्व छात्र-सम्मेलन के अवसर पर भी एक विराट कवि-सम्मेलन की योजना बनाने लगे। मेरे साथियों में थे 'वीणा' के सम्पादक पंडित कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' तथा 'चाँद' के भूतपूर्व सहकारी सम्पादक श्रीदेवीदत्त मिश्र बी० ए०, एल० एल० बी०। अंत में कवि-सम्मेलन का होना निश्चित कर दिया गया। बाहर के कवियों में

प० सुमित्रानदन पत

श्रीमती महादेवी वर्मा तथा प० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' को आमन्त्रित करने की बात तय की गयी।

मैंने राय दी 'यदि पंतजी को आमन्त्रित किया जाय तो कैसा रहे ?'

कुसुमाकरजी ने कहा 'मुझे कोई आपत्ति नहीं यदि पंतजी आना स्वीकार करें।'

मैं पंतजी की कवितायें पढ़-पढ़ कर उनका भक्त सा हो गया था। पंतजी को कवि-सम्मेलन में बुलाने की उतनी इच्छा नहीं थी जितनी उन्हें देखने की। इतनी सुकुमार भावनायें इतनी सुकोमल भाषा में व्यक्त करने वाले पं० सुमित्रानन्दन पंत को एक बार देखने तथा उनसे बात करने के लिये किसका जी न चाहेगा ? मैं ऐसा सुयोग देखकर उनसे मिलने की कामना करने लगा।

प्रश्न हुआ 'पंतजी को कौन ला सकता है ?'

यद्यपि इसके पूर्व न तो कभी मैं प्रयाग गया ही था और न इतने सुप्रसिद्ध साहित्यकार से कभी मिला ही था फिर भी बोल उठा 'मैं चेष्टा कर सकता हूँ।'

अंत में मुझे ही प्रयाग भेजने का निश्चय किया गया। दूसरे दिन अपने एक सहपाठी तथा स्व० राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के वंशधर राय गोपीचन्द को साथ लेकर मैं पं० सुमित्रानन्दन पंत से मिलने के लिये प्रयाग चल दिया।

राय गोपीचन्द बड़े हँसमुख और मिलनसार थे। रेल में मैंने उनसे कहा 'क्योंजी, पंतजी से कैसे मिलना होगा ?'

उनसे मिलने में क्यों घबड़ा रहे हो ? उनकी शकल सूरत

तो औरतों की सी है।'

मैं उनकी ओर आश्चर्य के साथ देखता हुआ बोला 'तुमने उन्हें कब देखा ?'

वे उसी प्रकार हँसते हुये बोले 'उन्हें नहीं देखा तो क्या हुआ ? उनका चित्र तो देखा है।'

मैं थोड़ी देर चुप रहकर बोला 'कवि लोग प्राय स्त्रियों की सी मस्त बनाये रखने में कोमल भावनाओं की रक्षा समझते हैं। कदाचित पंतजी इस परम्परा की रक्षा करने के कारण ही इस वेश में रहते हों।'

राय गोपीचन्द हँसते हुये बोले 'और अपने शहर के मनेहीजी कोमल भावनाओं की रक्षा कैसे करते होंगे ?'

मैं बात काटकर बोल उठा 'उनकी बात और है। पंतजी तो बिल्कुल भिन्न धारा के कवि हैं। उनका तो जन्म ही मानों सुकोमल भावनाओं के बीच हुआ है। वे कैसे होंगे इसका तो अनुमान ही नहीं लगा पाता हूँ।'

राय गोपीचन्द बोले 'निस्संदेह पंतजी की भावनाओं में सुकोमलता निखरी सी पड़ती है। उनकी भाषा कितनी मधुर और प्राञ्ज है।

मैं थोड़ी देर तक चुप रहकर बोला 'मगर उनसे मिला कैसे जाय यह भी एक प्रश्न है।'

हँसते हुये राय साहब ने कहा 'तुम भी अजब आदमी हो। वैसे ही उनसे मिला जायगा जैसे आदमी आदमी से मिलता है। किसी से मिलने में भी आप इतना घबड़ाते हैं ?'

मैं बोला 'सब आदमी और पंतजी क्या बराबर हैं ?'

प० सुमित्रानन्दन पंत

गोपीचन्द ने कहा 'तो फिर पंतजी क्या देवता या अप्सरा हैं? वे भी तो हमारी और तुम्हारी तरह आदमी ही हैं।'

मैं चुप हो रहा। वास्तव में मैं पंतजी को आदमी से ऊंचा ही समझता था। गोपीचन्द की बातों से मेरी उस श्रद्धा में किसी भी प्रकार का धक्का न लगा। पंतजी को देखने की मेरी उत्कंठा में किसी भी प्रकार की कमी न हुयी।

प्रयाग पहुंचे। उस समय श्री सुमित्रानंदन पंत स्टेनलीरोड पर रहते थे। हम लोग पता लगाते-लगाते उनके घर पर पहुंच गये। किसी भी प्रकार की असुविधा न हुई।

एक नौकर ने हम लोगों को कमरे में बिठलाते हुये कहा 'आप लोग बैठ जाइये।'

कमरा भी कदाचित् मुझ पर अपना प्रभाव डाले बिना न रह सका। साफ-सुथरा तथा उन्हीं वस्तुओं से पूर्ण था जो प्रायः एक कलाकार पसन्द करता है। दीवार पर एक ओर कुछ कपड़े टंगे हुये थे। मेज पर किसी विदेशी कवि का चित्र शीशे के फ्रेम में मढ़ा हुआ रखा था।

हम लोगों को अधिक देर न बैठना पड़ा। एक सुन्दर सी आकृति की सौम्य मूर्ति ने हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। हम उन्हें देखते ही समझ गये कि ये ही पं० सुमित्रानंदन पंत हैं। ऊंचा मझोला डील डौल, एकहरा बदन, बड़े बड़े पीछे की ओर झुके हुये घुंघराले से बाल, चेहरे पर एक अपूर्वत्व तथा गंभीरता।

हम लोग उठकर खड़े हो गये।

पंतजी ने हम लोगों को बिठलाते हुये कहा 'कहिये क्या

आशा है ?'

मैं तो मौन सा होकर रह गया था। एकटक पंतजी की ओर देखकर मैं कदाचित उनकी तुलना अपनी कल्पना के श्री सुमित्रानन्दन पंत से कर रहा था। कितनी समानता थी दोनों में।

मुझे चुप देखकर राय गोपीचन्द ने कहा 'हम लोग कानपुर से आये हैं।'

पंतजी अपनी सुकोमल वाणी में बोले 'अच्छा। आप लोगों से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुयी।'

हम लोग चुप थे। पंतजी हम लोगों की ओर इस प्रकार से देख रहे थे मानों वे शीघ्र ही हम लोगों का प्रयाग आने का अभिप्राय जानना चाहते हैं।

हम इस भाव को हृदयगम करते ही बोल उठे 'हम लोग कानपुर में एक विराट कवि सम्मेलन का आयोजन कर रहे हैं।'

पंतजी तुरन्त बोल उठे 'बड़ी प्रसन्नता की बात है।'

मैं रुककर राय गोपीचन्द की ओर देखने लगा। 'तब क्या सभी कुछ मैं ही कहूं ? ये अब क्यों नहीं बोलते ?'

मैं तो पंतजी से बात करने की अपेक्षा उन्हें अपलक नयनों से थोड़ी देर तक देखते रहना चाहता था।

पंतजी मेरी ओर गौर से देख रहे थे। कदाचित वे जानना चाहते थे कि फिर मेरे पास क्या कहने के लिए आये हो ?

अंत में मुझे बोलना ही पड़ा 'हम लोग चाहते हैं कि आप.. ......

बात पूरी करने के पहिले ही कदाचित पंतजी हमारा

अभिप्राय समझ गये थे। बोले 'मैं तो आपके कवि-सम्मेलन में पहुँचकर बड़ा प्रसन्न होता किन्तु इस समय मेरा चित्त कुछ अस्थिर सा है। आशा है आप लोग इस बार मुझे क्षमा करेंगे।'

हृदय पर एक धक्का सा लगा। कदाचित् उस समय पंतजी के किसी निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो गयी थी। हम लोगों को चुप देखकर वे बोले 'अभी मेरा चित्त स्थिर नहीं है। यदि आपके कवि-सम्मेलन के समय तक वेदना-मुक्त हो जाऊंगा तो आने की चेष्टा करूंगा।'

कुछ तो संतोष हुआ ही। लगभग दो मिनट तक हम लोग चुपचाप बैठे रहे। पंतजी फिर बोले 'क्या प्रयाग से आप और किसी को ले जा रहे हैं ?'

मैं बोल उठा 'हम लोग श्रीमती महादेवी वर्मा के पास भी जायंगे।'

पंतजी कुछ सोचकर बोले 'यदि श्रीमती वर्मा कानपुर जाना स्वीकार कर लें तो मुझे इस बात की सूचना दे दीजियेगा।'

गोपीचन्द बोल उठे 'जी अच्छा।'

हम लोग उठकर खड़े हो गये। पंतजी ने कहा 'क्षमा कीजियेगा मैं कुछ मानसिक उलझनों में हूँ नहीं तो आपका आमंत्रण स्वीकार करने योग्य ही था।'

हम लोग चले आये। पं० सुमित्रानन्दन पंत स मेरी यह प्रथम भेंट थी। कई वर्षों से जैसी कल्पना मैंने उनके सम्बन्ध में कर रखी थी ठीक वैसा ही उनको पाया। वे मधुर-भाषी होने के साथ ही साथ दूसरों की भावनाओं को भी चोट पहुँचाने से सर्वथा दूर ही रहना चाहते हैं। उनमें एक विशेषता और है।

वे नहीं चाहते कि उनसे भेंट करने वाला कभी भी उनके विषय में किसी भी प्रकार का कटु अनुभव लेकर वापिस जाय। उनकी वाणी में सहानुभूति झलकती है। वे कवि की ही भांति रहते और दूसरों से व्यवहार करते हैं। यद्यपि वे हमारा निमंत्रण स्वीकार न कर सके फिर भी उनके विषय में मेरी धारणा को किसी प्रकार का धक्का न लगा वरन उनके प्रति मेरी श्रद्धा कुछ और बढ़ ही गयी।

निस्संदेह पंतजी ने हिन्दी की कविता के स्तर को ऊंचा किया है। कोमल भावनाओं के साथ ही साथ कोमल भाषा को विस्तार दिया है। उनकी कविताओं में प्रकृति स्वयं हास-विलास सी करती दिखलायी पड़ती है। पठन के साथ ही साथ कवि के भाव पाठक के हृदय में उतरते चले जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदना-युक्त संसार की संवेदनशीलता कवि के भावों में उमड़ी सी पड़ती है। पंतजी ने निस्सन्देह ही हिन्दी को कविता के इस एक अनोखे रूप की देन दी है जो अभूतपूर्व है। एक ऐसी नई धारा को जन्म दिया है जो अपेक्षित होने के साथ ही साथ चिरस्थायी है। पं० सुमित्रानन्दन पंत युग कवि हैं। हिन्दी कविता के निर्माताओं की तालिका में पं० सुमित्रा-नन्दन पंत का स्थान किसी भी कवि से नीचे न रहेगा।

पं० सुमित्रानन्दन पंत से मेरी दूसरी भेंट दिसम्बर सन् १९४७ के प्रथम सप्ताह में हुयी। दुर्भाग्यवश इस बार भी कानपुर में होने वाले एक अखिल भारतीय कवि सम्मेलन में उन्हें आमंत्रित करने के लिये ही उनके पास पहुँचा था। लगभग ११ वर्ष बाद मैंने उनके दूसरी बार दर्शन किये थे।

पं० सुमित्रानन्दन पंत

पं० सुमित्रानन्दन पंत के साथ ही साथ श्री बच्चनजी को भी आमंत्रित करना था किन्तु सौभाग्य से पंतजी और बच्चनजी के एक ही स्थान पर दर्शन हो गये। मेरे साथ प्रयाग महिला विद्यापीठ के श्री बरजोरसिंह भी थे।

मैं पंतजी से बात करने लगा तथा श्री बरजोरसिंह श्रीयुत बच्चन से। पंतजी ने इस बार भी कवि-सम्मेलन में जाने से असमर्थता प्रकट की। उन्होंने बड़ी विनम्रता के साथ बतलाया कि उस समय वे बहुत ही व्यस्त रहेंगे तथा चेष्टा करने पर भी न आ सकेंगे।

श्री बच्चनजी शरणार्थियों की सहायतार्थ होने वाले उस कवि-सम्मेलन में आने की पांच सौ रुपये की फीस चाहते थे। ठाकुर बरजोरसिंह उनसे सौदा कर रहे थे।

मैं पंतजी से इधर उधर की बातें करता रहा। पंतजी ने कहा 'हिन्दी के प्रकाशक किसी लेखक या कवि को पैसा देना जानते ही नहीं। सम्पादकगण मुझसे कविता मांगते हैं और मैं भेज देता हूँ। कविताओं को छापने के बाद वे मौन हो जाते हैं। कोई दस-बीस रुपये भी नहीं भेजना चाहता।'

मैंने उनकी बातों का समर्थन किया। बीच ही में ठाकुर बरजोरसिंह ने मुझसे कहा 'बच्चनजी तो पांच सौ रुपए से कम फीस ही नहीं लेना चाहते।'

मैं चुप रहा। पंतजी ने कहा 'बच्चनजी बहुत सुन्दर कविता पढ़ते हैं। आप इन्हें अवश्य ले जायें।'

मैंने कहा 'किन्तु हम तो शरणार्थियों की सहायता के लिये कवि-सम्मेलन कर रहे हैं। इतना रुपया बच्चनजी को कहां

दे सकते हैं।'

पंतजी ने फिर कहा 'बच्चन जी कुछ अधिक नहीं मांग रहे हैं। इन्हें आप अवश्य ले जांय। आपका कवि-सम्मेलन सफल हो जायगा।'

मैं क्या कहता ? केवल चुप रहा।

ठाकुर वरजोर सिंह मुझसे बोले 'आप पंतजी से ही एक बार फिर चलने का अनुरोध कीजिये बवनजी।'

पंतजी स्वयं बोल उठे 'मैंने अपनी असमर्थता पहिले ही बतला दी है। आप बच्चनजी को अवश्य ले जांय।'

मेरी समझ में न आ रहा था कि आखिर पंतजी बच्चनजी की इतनी पैरवी क्यों कर रहे हैं। मैं फिर भी चुप रहा।

क्षण भर बाद पंतजी ने फिर कहा बच्चनजी अधिक रुपये नहीं मांग रहे हैं। अच्छा हो यदि आप इन्हीं को ले जांय।'

अब मुझसे न रहा गया। मैं बोल उठा 'मैं तो आपको ले चलने के लिये आया था पंतजी। बच्चनजी को तो अब मैं किसी भाव में भी न ले जा सकूंगा।'

पंतजी फौरन बोल उठे आप विश्वास करें कि यदि मैं चल सकता तो अवश्य चलता। आपको जो कष्ट हुआ उसके लिये ..'

मैं बोल उठा 'इसमें कष्ट की क्या बात है। आपके दर्शन हो गये इसी बहाने।'

हम लोग लौट आये।'

पंतजी का कवियों में अब पहिले की अपेक्षा अधिक मान हो गया है और वास्तव में कवि पंत इस समय हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में से हैं।

पं० सुमित्रानन्दन पंत

किन्तु...

इस भेंट में पंतजी के व्यक्तित्व का कोई असाधारण प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ा। अब कवि कुछ सांसारिक सा अधिक जान पड़ा। सम्भव है कि इस समय की परिस्थिति कुछ भिन्न हो किन्तु कवि पंत में मुझे इस बार उस वस्तु के दर्शन नहीं हुये जिसे मैं पहिली बार देख आया था।

जो कुछ भी हो पं० सुमित्रानन्दन पंत महान कलाकार हैं तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन्हें युग-कवि ही मानकर उनकी पूजा होनी चाहिये।

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

अमीनाबाद के चौराहे से ज्यों ही आगे बढ़ा सामने से निरालाजी आते दिखलाई पड़े। सन् १९२६ ई० के लगभग कानपुर के किसी कवि-सम्मेलन के सम्बन्ध ही में मुझे सर्वप्रथम निरालाजी के दर्शन हुये थे। वही लम्बा-चौड़ा डील-डौल, उन्नत ललाट तेजस्वी व्यक्तित्व। मैंने उन्हें प्रणाम किया।

निरालाजी खड़े हो गये।

मैंने अटूट श्रद्धा सी प्रकट करते हुये कहा। 'आप तो मुझसे अपरिचित ही हैं निरालाजी। मैं...... .'

वे झट से बोल उठे 'मैं आपको पहिचानता हूँ।'

आश्चर्य के स्वर में मैं कह उठा 'आपको भ्रम हुआ है। आप मुझे नहीं ...'

वे शीघ्रता से बोल उठे 'आपका नाम देवीप्रसाद धवन है।'

मैं विस्मित सा रह गया। निराल जी मुझे जानते हैं यह मेरे लिये आश्चर्य और गर्व की बात थी।

मैं साहस करके पूछ उठा 'आपने मुझे कहां देखा था निरालाजी ?'

निरालाजी मुसकुराते हुए बोले 'मैंने आपको कानपुर के कवि-सम्मेलन में देखा था। नाम इसलिये याद रहा कि आपका नाम संयोजक के स्थान पर छपा था। इस सम्मेलन में सभापति के पद के लिये कुछ झगड़ा भी था और आप उसमें विरोधपक्ष से भाग ले रहे थे।'

मैं अब तक आश्चर्य के साथ निरालाजी के मुंह की ओर देख रहा था। कितना जबरदस्त इनकी स्मरणशक्ति है ? इतना बड़ा कलाकार इतना साधारण सा बात भी याद रखता है।

यह निरालाजी से मेरी दूसरी भेंट थी।

× × × ×

सन् १६३६ में मैं 'सती' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादन करता था। निरालाजी की भी एक कविता उसमें प्रकाशित करने की इच्छा हुई। निरालाजी उस समय कदाचित लखनऊ के मकबूलगंज मुहल्ले में रहते थे।

मैं लखनऊ पहुँचा। खोजकर इनके घर पर पहुँचकर देखा कि श्रीयुत निरालाजी पढ़ने में तल्लीन हैं।

उन्होंने मेरा स्वागत किया। मैं चुपचाप इनके पास बैठ गया।

निरालाजी से कविता मांगने का साहस न पड़ रहा था। सुना था निरालाजी बड़े शुष्क और मुंहफट्ट हैं। यही सोचकर चुपचाप बैठा ही रहा।

निरालाजी बोले 'आपकी 'सती' तो अच्छी निकल रही है।

मुझे पसन्द है। मैं उसे पढ़ता हूँ।'

इसके पूर्व कि मैं कुछ कहूँ वे उठकर खड़े हो गये। मैं चुपचाप बैठा रहा।

जूते पहिनते हुये वे बोले 'आइये जरा मेरे साथ।'

मैं कुछ समझा नहीं। चुपचाप उठकर खड़ा हो गया। वे मुझे साथ लेकर सड़क पर आ गये।

मैं उनके पीछे पीछे चला। कुछ समझ में न आया कि आखिर वे मुझे अपने साथ लेकर कहां जा रहे हैं? निरालाजी के सारे कार्य ही निराले होते हैं। मैं मन ही मन मुसकुरा उठा।

निरालाजी मुझे लिये हीवेटरोड पहुँचे। निकट ही के पेरागाव नामक रेस्तरां में घुसते हुये बोले 'आइये कुछ खा पी लीजिए।'

मैं चकित सा रह गया। मेरी कुछ खाने पीने की इच्छा न थी किन्तु निरालाजी जैसा महान कलाकार मुझ जैसे नगण्य व्यक्ति की अकारण ही इतनी खातिर करे तो उसे अस्वीकार कैसे किया जा सकता है।

निरालाजी बोले 'आप अंडे खाते हैं?'

मैं बोल उठा 'जी नहीं। मैं तो केवल चाय लूंगा।'

निरालाजी ने कहा 'चाय के साथ टोस्ट तो ले सकते हैं।'

चाय पीकर निरालाजी मेरे साथ फिर मकान पर आ गये। फर्श पर बैठते हुए वे बोले 'आज कल रामचरित्र मानस पर कुछ लिखने को जी चाह रहा है।'

मैं बोला। 'आप जैसे कलाकार जो कुछ भी लिखेंगे वह सत्य, शिव और सुन्दर होगा।'

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

निरालाजी फिर मौन हो गए। मैंने साहस करके कहा। 'निरालाजी हमारी 'सरी' के लिए भी एकाध कविता देने की कृपा करें।'

निरालाजी एकदम उठकर खड़े हो गये। निकट ही एक पलंग बिछा हुआ था। सिरहाने से उन्होंने एक लिफाफा निकाला। लिफाफा बन्द था। उन्होंने उसे खोल डाला तथा उसमें से एक कागज निकालकर मेरी ओर बढ़ा दिया।

यह निरालाजी की बिल्कुल हाल की ही लिखी हुई एक कविता थी। मै गद्‌गद्‌ हो गया।

उक्त कविता निरालाजी कदाचित् किसी ऐसी मासिक पत्रिका को भेज रहे थे जहां से उनको कुछ रुपए मिल सकते थे। मुझसे तो उनको किसी भी प्रकार की आशा थी नहीं। निरालाजी की यह उदारता कदाचित् मैं जन्म भर न भूल सकूंगा।

[२]

उसके बाद तो कई बार उनके दर्शन हुए। जब भी मैं उनसे मिला उनकी सहृदयता, मानवता और उदारता की छाप मुझ पर पड़ती गयी। कौन कहता है कि निरालाजी जन्म-जात कलाकार और कवि नहीं हैं ? एक महान कलाकार तथा एक महान मानव में जो गुण होने चाहिए सभी तो उनमें पराकाष्ठा तक हैं। निरालाजी वास्तव में निराले ही हैं। उनके संपर्क में आने पर ही उनके महान व्यक्तित्व की अमिट छाप पड़ती है। उस लम्बे चौड़े, रूखे और अस्त-व्यस्त कलाकार का हृदय कोई क्या समझेगा ? किसी को कष्ट में देखकर निरालाजी आपे में नहीं रहते। अपना सर्वस्व देकर भी वे उसकी प्रसन्नता देखना

चाहते हैं। उनके इस अस्त-व्यस्त रूप के अन्दर जो सुकोमल मानव-हृदय छिपा हुआ है उसकी गहराई तक पहुँचना साधारण कार्य नहीं है। किसी विपद् ग्रस्त मानव को देखकर वे अपनी जेब से सारे पैसे उसके आगे उँडेल देते हैं और स्वयं निर्धनता का अभिशाप गले लगा लेते हैं। यह उनकी स्तुति नहीं है किन्तु हिन्दी के एक महान कलाकार का वास्तविक चरित्र है। निरालाजी को कदाचित कुछ लोगों ने ही समझा है। किन्तु जिन्होंने समझा है उन्होंने उन्हें भलीभांति समझा है।

निरालाजी का अध्ययन अपार है। उनकी स्मरणशक्ति अभूतपूर्व है किन्तु उनकी बड़ी कमजोरी है उनकी मानवता। उनकी आर्थिक कठिनाइयां उनके गुणों ने ही पैदा की हैं।

एक बार जब वे मुझे मिले तो मैंने उनसे कहा 'आपने इधर जो भी उपन्यास लिखे हैं वे अत्यन्त ही सुन्दर हैं। मैंने आपके सभी उपन्यासों को पढ़ा है।'

निरालाजी फौरन बोल उठे 'आपको मेरा कौन सा उपन्यास अधिक पसन्द है?'

मैंने उत्तर दिया 'अप्सरा'

वे बोले 'आपने' निरुपमा 'नहीं पढ़ा?'

मुझे इस पुस्तक के प्रकाशित होने की बात ज्ञात न थी। मैं बोल उठा 'क्या यह उपन्यास अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है?'

निरालाजी ने बिना कुछ उत्तर दिए ही मुझे अपने साथ चलने का संकेत किया। वे मुझे लिये हुए अमीनुद्दौला पार्क के पीछे एक गली में घुसे। एक मकान के पास पहुँचकर वे रुके।

इसमें एक साइन-बोर्ड लगा हुआ था। जिस पर लिखा था 'कला मन्दिर।'

वे ऊपर चढ़े। मैं भी उनके पीछे ही पीछे चढ़ा। ऊपर कमरे में एक सज्जन बैठे हुये चित्र-कला में रत थे। वहां पहुँचते ही निरालाजी न कहा 'मैंने तुम्हें 'निरुपमा' की एक प्रति दी थी कल ?'

वे सज्जन धीरे से बोले 'हां'

निरालाजी बोले 'मुझे वह प्रति लौटा दो। तुम्हें मैं फिर दे दूंगा।'

उन्होंने 'निरुपमा' की प्रति लाकर निरालाजी को दे दी। मुझे वह प्रति देते हुये निरालाजी ने कहा 'इसे पढ़कर देखियेगा।

मैं आश्चर्य से भर गया था। आखिर निरालाजी ऐसा महान कलाकार अपनी पुस्तक पर मेरी सम्मति जानने के लिये उत्सुक क्यों हैं ? तब तो निरालाजी मेरे विषय म बहुत ऊंचे विचार रखते होंगे।

थोड़े दिनों पश्चात् समझ में आया कि यह उनकी उदारता है। वे जिससे मिलते हैं बड़े स्नेह के साथ मिलते हैं तथा उसका अधिक से अधिक सम्मान करते हैं। उनकी यह मेरे प्रति ममता ही थी जो वे मेरा इतना सत्कार कर रहे थे। निरालाजी निराले ही हैं उन्हें समझना सरल कार्य नहीं है।

निरालाजी की कवितायें प्राय लोग नहीं समझते। मुझे तो उनकी कवितायें समझने में कभी कठिनाई नहीं हुयी। उनमें भावों का इतना आधिक्य है कि उन्हें व्यक्त करने वाली

भाषा के लिये वे कोष नहीं ढूंढ़ते। उनकी भाषा तो हृदय से निकलती है। उसे परिमार्जित करके और बन्धन में जकड़ कर वे भावों की मौलिकता की हत्या करना नहीं चाहते। जिन शब्दों में वे सोचते हैं उन्हें उसी प्रकार व्यक्त कर देते हैं—लिख देते हैं। इस प्रकार के भावों को प्रकट करने के लिये कवि को यह कभी आवश्यक नहीं होता कि वह शब्दों की संख्या और सीमा निर्धारित करे। नियम और पिंगल-शास्त्र के प्रयोग से तो भावों की मौलिकता अवश्य नष्ट हो जायगी। कवि मूर्त्ताधार को देख रहा है। रागों ने भावों की सृष्टि करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार के भावों की सृष्टि कभी शब्दों में होती है—कभी वाक्यांश में होती है और कभी पंक्ति में होती है। वाक्यांश से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि वह कर्ता, क्रिया अथवा पूर्वकालिक क्रिया के बन्धनों से युक्त हो। पंक्तियों के लिये भी यह नियम लागू नहीं है। जिन शब्दों ने भावों को सम्पूर्ण किया उन्हें यथावत् व्यक्त कर दिया। इस प्रकार की कविता में भावों को ही प्रधानता दी जाती है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस प्रकार भाषा और पिंगल के चक्कर में न फंसकर भाव नितांत मौलिक और यथावत् होते हैं। मेरे मत से कदाचित निरालाजी इसी प्रकार की कविता लिखते हैं। आने वाला युग कदाचित् इसे भली भांति समझ सकेगा। निरालाजी युगान्तर-कारी कवि हैं। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में भी हमको कृत्रिमता नहीं मिलती। उनकी भाषा साहित्यिक, मुहाविरेदार और आकर्षक होने के साथ ही साथ प्रचलित सी भी है।

निरालाजी अध्ययनशील व्यक्ति हैं। उनका ज्ञान अपार है।

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

विदेशी साहित्य का उन्होंने अच्छा-खासा अध्ययन किया है। यही कारण है कि वे बहुत ऊंची श्रेणी के आलोचक भी हैं।

निरालाजी सभी बन्धनों से अपने को मुक्त,सा समझते हैं। उनके विचारों में स्वतंत्रता है और इस स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने में उन्हें जीवन में सभी प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। उन्हें इसकी चिन्ता नहीं कि उनके विषय में कोई क्या विचार रखता है। वे तो अपने मनोविज्ञान को ही अपना साथी समझ कर चलते हैं। जीवन के कठोर तथा नग्न सत्य को छिपाने के पक्ष में वे नहीं हैं। कलाकार के अस्त-व्यस्त जीवन के अन्दर एक निश्चित से कार्य-क्रम को पूरा करने की लगन सी छिपी ज्ञात होती है। वे विघ्न-बाधाओं से नहीं डरते और न अपनी कठिनाइयों से वे किसी भी प्रकार का समझौता ही करना चाहते हैं। उनका तो कार्य-क्रम निश्चित है तथा मार्ग भी निश्चित है। निरालाजी अडिग से हैं। तभी प्रायः लोग उन्हें जिद्दी, शुष्क, फक्कड़ और औघड़ सा समझ लेते हैं। निरालाजी इसके विपरीत सहज, सुलभ, सरस, दृढ़ और मिलनसार प्रकृति के हैं। जिसकी व्यक्त भावनायें इतनी कोमल और सुन्दर हो वह पुरुष प्रकृति का कैसे हो सकता है?

अभी कुछ मास पूर्व मेरी भेंट अचानक उनसे प्रयाग में हो गई। मैं 'लीडर प्रेस' से प्रकाशित होने वाले साप्ताहिक 'संगम' के सहकारी संपादक पण्डित रमानाथ अवस्थी के घर पर था। उसी समय किसी व्यक्ति ने अवस्थीजी से आकर कहा 'निरालाजी आपको बुला रहे हैं।'

अवस्थी जी उनसे मिलने जाने के लिये तैयार हुए। मैं भला

निरालाजी से मिलने का इतना सुन्दर सुयोग कैसे छोड़ा सकता था। उन्हीं के साथ चल दिया। एक सकरी सी गली में एक साधारण मकान के तिमजिले पर जमीन पर बिछौना बिछा कर हिन्दी का वह महान कलाकार लेटा हुआ था। मैंने उन्हें सादर प्रणाम किया। उन्हें मेरा परिचय देने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वे मुझे अच्छी तरह पहिचानते थे।

इस समय निरालाजी कुछ अस्त व्यस्त थे किन्तु फिर भी उनके चेहरे का तेज कुछ सदा की अपेक्षा मुझे अधिक मालूम दिया। उन्होंने हम लोगों के साथ बड़ी आत्मीयता के साथ बातचीत की।

बातों के सिलसिले में उन्होंने कहा 'अब आप लोग कहा मिलेंगे ?'

मैंने कहा 'इस समय हम लोग श्री वाचस्पति पाठक के यहा भोजन करने जा रहे हैं। शाम तक लीडर प्रेस में ही रहेंगे।'

वे बोले 'मैं लगभग चार बजे आप लोगों से वहां मिलूंगा।'

निरालाजी ने हम लोगों को सुन्दर सा जल पान कराया। हम लोग वहा से पाठक•जी के घर चले आये।

पाठक जी के साथ हम लोग भोजन करके उठे ही थे कि एक सज्जन ने आकर बतलाया कि 'निरालाजी आये हैं।'

हम लोगों ने पाठकजी के बैठके में जाकर देखा कि निरालाजी लेटे हुये आराम कर रहे हैं।

मैंने अनुभव किया कि वे हम लोगों के नैकट्य से कितना प्रसन्न होते हैं।

* * *

प० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला'

मेरे ऊपर निरालाजी के व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ा है। न जाने उनसे कितनी बार भेंट करके भी चित्त नहीं भरता है। मेरी तो सदैव उनसे मिलने की इच्छा होती है। जब वे मिलें तो उनके विचारों को अधिक से अधिक सुनने की चेष्टा करना चाहिये। उनसे व्यर्थ की बहस करके अपना और उनका समय नष्ट न करना चाहिये। उनमें भावों का इतना आधिक्य है कि वे कभी कभी उसे ठीक तौर से व्यक्त नहीं कर पाते।

मुंशी प्रेमचन्द

[१]

'सेवा-सदन' और 'रंगभूमि' के लेखक मुंशी प्रेमचन्द का नाम उन दिनों प्रत्येक कहानी-पाठक की जबान पर था। मैंने भी बड़ी उत्सुकता और लगन के साथ इन उपन्यासों को पढ़ा था। इसके पूर्व इतने हृदयग्राही और आकर्षक उपन्यास पढ़ने को न मिले थे। उनके उपन्यास पढ़कर ऐसा प्रतीत हुआ मानों प्रेमचन्द भी अपने उपन्यासों की भांति ही अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ विचित्र होंगे। उनकी कहानियां 'पंच परमेश्वर' और 'बड़े घर की बेटी' बार बार पढ़ने पर जी न भरता था। उनके दर्शन करने की इच्छा बलवती होने लगी।

उन दिनों कानपुर के फूलबाग पार्क में सन्ध्या के समय साहित्यकारों की मंडली जमा करती थी। इनमें प्रमुख थे पं० विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', पं० रमाशंकर अवस्थी, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' श्री भगवतीचरण वर्मा,

---

श्री प्रतापनारायणजी श्रीवास्तव, प० कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' प० लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी आदि। इन लोगों के अतिरिक्त सफेद कुर्ता और गाधी टोपी लगाये हुये एक सज्जन और आया करते थे जो कदाचित् किसी स्थानीय स्कूल के हेडमास्टर थे।

बहुत दिनो बाद मुझे मालूम हुआ कि वे सफेद कुर्ता और गाधी टोपी लगाने वाले सज्जन ही हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार तथा 'सेवा सदन' और 'रगभूमि' के यशस्वी लेखक मुशी प्रेमचन्द थे। इतने बडे उपन्यासकार के भरपूर निकट में आने का स्वर्ण अवसर जीवन भर के लिये हाथ से निकल गया था। वे हेडमास्टरी से त्यागपत्र देकर लखनऊ चले गये थे। फिर मुझे कभी जीवन में उनके दर्शन नहीं हुये।

× × ×

निस्सदेह मुशी प्रेमचन्द आधुनिक कथा साहित्य के जनक हैं। कथा साहित्य को यथार्थवाद के साचे में ढालने का प्रमुख श्रेय मुशी प्रेमचन्द को है। कहानी की परिभाषा को सजीव और साकार मानकर प्रेमचन्दजी ने जो सुन्ढ नींव रक्खी थी उस पर आज अट्टालिका सी बनती हुई दृष्टिगोचर हो रही है। प्रेमचन्द-परम्परा के अनुयायियो को ही कथा साहित्य को वर्तमान रूप देने का श्रेय प्राप्त है। इस परम्परा के प्रमुख अनुयायियों में हैं श्री विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' श्री सुदर्शन श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव, श्री भगवतीचरण वर्मा, प० भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि। प्रेमचद परम्परा की विशेषता है यथार्थवाद का नैकट्य। इस परम्परा के पात्र बहुत कम अशो

में फलित होते हैं। इन पात्रों में व्यक्ति बोलते हैं कथाकार की कोरी कल्पना नहीं। कथानक का निर्माण अनुभूतियों पर होता है तथा अनुभूतिया ही यथार्थवाद की जनक हैं। विचार और परिस्थिति मिलकर एक ऐसे पूर्णत्व को जन्म देते हैं जिसमें मस्तिष्क और लेखनी का चमत्कार तो अवश्य दिखलाई पडता है किन्तु उसकी तह में रहती है अनुभूति ही। प्रेमचन्द परम्परा के कथाकार भौतिकवाद से दूर नहीं भागते और यही कारण है कि कहानियों में कोरे विचारों की उडान नहीं है वरन् उनमें वे तत्व पाये जाते हैं जिनसे मानव अपने चरित्र का निर्माण कर सकता है। वह अप्रत्यक्ष रूप से अपने जीवन का आदर्श उपस्थिति कर सकता है तथा विचारों की समष्टि से ससार को कुछ दे सकता है। कहानी जीवन के भिन्न भिन्न पहलुओं की आलोचना है जो अनुभूति, अध्ययन तथा कथाकार के अभि व्यक्तीकरण की शक्ति पर निर्भर रहती है। प्रेमचन्द परम्परा की यही विशेषता है तथा इसी का अनुकरण करके कथा साहित्य के स्तर को ऊचा किया जा सका है।

तो प्रेमचन्द ही इस परम्परा के जनक हैं। उनके तथा उनकी कहानियो के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा और लिखा जा चुका है। हम केवल इतना हा कहना चाहते हैं कि प्रेमचन्द ने जो कुछ कथा साहित्य को दिया है आज हम उस पर गर्व कर सकते हैं। उनके सेवा सदन' 'प्रेमाश्रम' गबन' 'कर्मभूमि' 'गोदान' रगभूमि' तथा सैकडों कहानियो से युगो तक हमारा पथ प्रदर्शन होता रहेगा। उनके कथानक, पात्र भाषा, शैली सभी कुछ किसी ऊचे कथाकार के लिये भी अनुकरण की वस्तु हो

सकते हैं। वे कहां नहीं गये ? राजमहलों में, झोपड़ियों में, देवस्थानों में, मधशालाओं में, पूंजीपतियों की अट्टालिकाओं में, गरीब मजदूरों की झोपड़ियों में, मानव प्रकृति में, पशुशालाओं में, पिता पुत्र में, पति पत्नी में, मित्र-शत्रु में, मित्र मित्र में, हिन्दुओं में, मुसलमानों में, ईसाइयों में, अंग्रेजों में, चोरों में, साहूकारों में। कहने का तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी उन्होंने लिखा सब अपनी अनुभूतियों के बल पर।

प्रेमचन्दजी का साहित्य पर ही नहीं वरन् समाज पर भी एक बहुत बड़ा ऋण है। समाज के भिन्न भिन्न पहलुओं को विभक्त करके उन्होंने प्रत्येक पहलू पर कहानियां लिखीं और उन कहानियों ने समाज की समस्या के हल को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया। जीवन के कटु सत्य को उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया है जिससे समाज तिलमिला उठा। उन्होंने मानव के मनोविज्ञान से अधिक न उलझ कर उसके कृत्यों और उसके जीवन से सबन्धित घटनाओं को ही अपनी कहानियों में प्रमुख स्थान दिया है। इस प्रकार अपनी कहानियों द्वारा प्रेमचन्द ने जो समाज सेवा की है वह किसी भी दिन रात समाज सुधार का काम करने वाले सामाजिक नेता की सेवाओं से कम नहीं है।

[७]

प्रेमचन्द जैसे व्यक्ति युगों के पश्चात् जन्म लेते हैं। सच्चे साहित्यकार की भांति वे जीवन भर आर्थिक कठिनाइयों से लोहा लेते रहे। अपने प्रखर राजनीतिक दृष्टिकोण के कारण वे जीवन भर देश की सरकार के भी कोप भाजन बने रहे।

थे पहले धनपतराय के नाम से कहानियां लिखते थे किन्तु कानूनी आक्रमण ने उन्हें अपना नाम तक बदलने के लिये विवश कर दिया। उर्दू के क्षेत्र से भागकर उन्हें हिन्दी के क्षेत्र में जाना पड़ा। धनपतराय से वे प्रेमचन्द हो गये। उस समय किसी ने भी उनका सही मूल्य न समझा। वे जीवन भर अपनी परिस्थितियों से संघर्ष करते रहे और कभी हार न मानी। आज हम उनके स्मरण मात्र से गौरवान्वित होना चाहते हैं।

लिखने की प्रतिभा तो बहुत से लेखकों में होती है। किन्तु अधिक लिख सकना प्रत्येक लेखक के मान का रोग नहीं है। प्रेमचन्द ने सुन्दर लिखा और बहुत लिखा। वे नित्य प्रति लिखते थे। आज कल के अधिकांश लेखकों की भांति उन्हें लिखने का मूड बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। वे सदा ही लिखने के मूड में रहते थे और तभी इतने अल्पकाल में वे इतना अधिक लिखकर दे गये जितना कई लेखक मिलकर भी नहीं दे सकते हैं। लेखक में लिखने की प्रतिभा होनी चाहिये। मूड में आने वाली बात तो कहने की हुआ करती है।

अन्त में उनके चरणों में सश्रद्धा नमन करते हुये मैं केवल इतना ही और कहना चाहता हूँ कि प्रेमचन्द को हमारे देश में वही प्रतिष्ठा मिलना चाहिये जो विदेश में टामस हार्डी, चेखव, मोपासा टालस्टाय, मेरी करेली आदि को और इस देश में शरदबाबू को प्राप्त है। प्रेमचन्द किसी भी दशा में इन लोगों से कम खुदय नहीं हैं।

मुंशी प्रेमचन्द

श्री विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

पं० विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

सन् १९१४ के पूर्व में प० विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' को केवल 'हिन्दी मनोरंजन' के सम्पादक के रूप में ही जानता था। मेरा और उनका किसी भी प्रकार का व्यक्तिगत परिचय न था। उनकी कहानियां मैं बड़े चाव के साथ पढ़ता था।

मेरा साहित्यिक जीवन दिल्ली से प्रारम्भ हुआ है। लगभग सन १९२६ में मैं वहीं से प्रकाशित होने वाले मासिक 'महारथी' के सम्पादकीय विभाग में काम करता था। वहीं से 'महारथी' में प्रकाशनार्थ मैंने अपरिचितों की भांति कौशिकजी को एक छोटी सी कहानी भेजने के लिये लिखा। उस पत्र का न तो कोई उत्तर आया और न कौशिकजी ने कहानी ही भेजी।

सन् १९२७ में जब मैं दिल्ली से कानपुर आया तो एक दिन मैं उनके घर उनसे मिलने के लिये गया। प्रथम भेंट कहानी मांगने का बहाना ही लेकर हुई थी।

स्थूल शरीर के, लम्बे चौड़े तथा विनोदी स्वभाव के

कौशिकजी एक मोटे से तकिये के सहारे बैठे हुये थे। मैं प्रणाम करके पास हां बैठ गया।

पं० विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' बड़े ऊंचे व्यक्तित्व के प्रतीत हुये। मैं चुपचाप बैठा रहा। कौशिकजी ने मेरी ओर एक कागज के चोंगे में लिपटे पान बढ़ा दिये।

मेरे पान खा लेने के बाद वे बोले 'कहिये क्या आज्ञा है ?'

मैं अटट सभ्यता दिखलाता हुआ बोला 'जी मैं दिल्ली से आया हूँ। मैंने आपको एक पत्र भी लिखा था।'

क्या महारथी कार्यालय से ?' कौशिकजी ने पूछा।

जी हां, मैंने आपको ..'

बीच ही में कौशिकजी बोल उठे 'हां-हां मैं समझ गया। मुझे याद आ गया।'

मैं चुप रहा। पंडितजी ने कहा 'कहिये आप आये कब ? कब तक रहेंगे ?'

मैं बोला 'मै तो कानपुर में ही रहता हूं। अभी यहां काफी दिनों तक रहूँगा।

कौशिकजी कुछ मुस्कुराकर बोले 'मैं तो अन्दाज लगा ही रहा था कि आप कनपुरिये मालूम पड़ते हैं। मेरा अनुमान ठीक ही निकला।'

मैं भी हस दिया।

थोडी देर तक इधर उधर की बात करने के बाद जब मैं चलने को हुआ तो कौशिकजी ने कहा 'यदि समय हो तो यहां आजाया करिये। सध्या के समय कुछ साहित्यकारों से भेंट ही हो जाया करेगी।'

पं० विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

मैं तो यही चाहता था। बोला 'अवश्य। सबसे अधिक बात यह होगी कि आपके संपर्क में कुछ सीखने को मिलेगा।'

कौशिक जी चुप रहे। मैं धीरे से बोला 'यदि एक आध कहानी दे सकें तो बड़ी कृपा हो।'

कौशिकजी बोले 'कहानी तो दूंगा ही किन्तु ... '

इतना कहकर कौशिकजी रुक गये। मैं भलीभांति जानता था कि कौशिकजी बिना अच्छा-खासा पारिश्रमिक लिये कहानी नहीं देते। मैं बोल उठा 'किन्तु अभी कछ अधिक दे सकने की क्षमता 'महारथी' में नहीं है। आगे चलकर हम लोग आपकी कुछ समुचित सेवा कर सकेंगे।'

कौशिकजी खिलखिलाकर हंस पड़े और बोले 'आप भी खूब है। मैं आप से पारिश्रमिक के लिये थोड़े ही कह रहा था। मैं तो यह कह रहा था कि आपको अभी इतनी जल्दी तो नहीं है?,

मैं अपनी जल्दबाजी पर कुछ खिसिया सा गया। पडितजी बोले 'आप लोगों ने तो मुझे अच्छा बदनाम कर रक्खा है कि मैं बिना पैसे लिये कहानी नहीं देता। अरे भाई दिन भर सम्पादक लोग कहानी के लिये परेशान करते रहते हैं अतएव विवश होकर यह कानून लागू कर देना पड़ा है।'

कह कर पडितजी फिर खिलखिलाकर हस पड़े। मैं उन पर मुग्ध सा होता जा रहा था। पहिली ही भेंट में ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वे मेरे बड़े पुराने परिचित हैं। एक ही भेंट में वे मेरे इतने निकट आगये थे।

[२]

कौशिकजी शीघ्र ही मेरे गहरे मित्र हो गये। बिना

एक बार शाम को उनसे मिले चैन ही न पड़ती। रविवार को तो उनका छोटा सा बैठका शाम को साहित्यकारों और मित्रों से भर जाता था। कौशिकजी के यहां आने वालों में प्रमुखरूप से थे पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' श्रीभगवतीचरण वर्मा, श्रीमतापनारायण श्रीवास्तव, पं० रमाशंकर अवस्थी, श्री प्रणयेश, पं० बद्रीनाथ अग्निहोत्री, पं० चन्द्रिकाप्रसाद मिश्र आदि। साहित्यिक चर्चा होती, संगीत का समा बँधता, पुस्तकों एवं व्यक्तियों की आलोचनायें होतीं तथा हास विनोद और हंसी के फव्वारे छूटते। कौशिकजी के यहां का यह क्रम वर्षों चलता रहा और उसका अंत भी कौशिकजी के अंत के साथ ही हुआ। इस मण्डली में बैठ कर न जाने कितने मित्र सा हत्यकार बन गये, बहुत से साधारण लेखक हिन्दी-जगत के सुप्रसिद्ध कथाकार होगये। पण्डित विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' को ही इसका श्रेय मिलना चाहिये।

किन्तु मेरी और कौशिकजी की घनिष्ठता असाधारणरूप से बढ़ती चली गयी। यदि कभी मैं उनके यहां न पहुँच पाता तो वे मेरे यहां आ पहुँचते थे। सावन के सोमवारों को प्राय वे हमारे यहां ही भोजन करते थे। किसी भी उत्सव में जाने का हमारा और उनका साथ ही साथ प्रोग्राम बनता था।

※ ※ ※

मैंने अपना साहित्यिक जीवन दिल्ली से प्रारम्भ किया था। सम्भव है कि मैं वहीं स्थायी रूप से रहने भी लगता किन्तु कौशिकजी की मैत्री ने ही मुझे कानपुर में रहने पर विवश किया। वे मुझसे अटूट स्नेह करते थे।

कौशिकजी केवल लेखक ही न थे। वे शिष्ट नागरिक, सच्चे

मित्र, सुन्दर आलोचक, उदारमना के साथ ही साथमानवता की साकार मूर्ति थे। वे अपनी मानवता अक्षुण्ण रखने के लिये बड़ी से बड़ी क्षति उठाने के लिये तैयार हो जाते थे। एक बार उनके पास एक सज्जन आये जिनसे उनकी साधारण सी मित्रता थी। उन्होंने कौशिकजी से कहा कि अदालत में मेरी जमानत कर दीजिये चलकर। कौशिकजी ने क्षण भर सोचा और फिर स्वीकार कर लिया। उसकी दो हजार रुपये की जमानत उन्होंने कर दी। अंत में उन्हें ही यह रुपया भरना पड़ा। इस घटना के बाद हम सब लोगों के कहने से उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे अब जीवन में कभी किसी की जमानत न करेंगे। किन्तु मुझे भली भांति मालूम है कि उसके बाद जो भी व्यक्ति कष्ट में पड़कर उनके पास आया उसकी जमानत उन्हें करना ही पड़ी। उनका स्वभाव ही ऐसा था।

कौशिकजी सम्पन्न व्यक्ति थे। धन की उन्हें कमी न थी किन्तु उनका अधिकांश रुपया दूसरों की सहायतार्थ व्यय होता था। यद्यपि कहानीकारों में प्रेमचन्द के बाद उनका ही नाम आता है किन्तु साहित्य से धन उपार्जन करने के प्रति वे अधिकांशत. उदासीन ही रहे।

कौशिकजी ने तीन उपन्यास तथा लगभग तीन सौ कहानियां लिखी हैं। अपनी नित्य प्रति की अनुभूतियों को उन्होंने 'दुबेजी की चिट्ठियों में लिखा है। ये 'दुबेजी की चिट्ठियां' साहित्य के विशेष अंग की पूर्ति करती हैं तथा अपने ढग की बेजोड़ हैं। इनमें सामाजिक कुरीतियो पर प्रभावात्मक ढग से व्यंग कसे गये हैं। हिन्दी साहित्य में कहानी की पत्रिका का श्रीगणेश

कौशिकजी ने 'हिन्दी-मनोरंजन' प्रकाशित करके किया । इस पत्रिका के प्रकाशन में भी उन्हें हजारों ही रुपये की क्षति उठानी पड़ी थी ।

संवाद-लेखन में वे हिन्दी के कथाकारों में सर्वश्रेष्ठ थे । पात्रों के असली अस्तित्व की सार्थकता संवाद पर ही निर्भर होती है । कौशिकजी को इसमें शत प्रति शत सफलता मिली है । यही कारण है कि उनकी कहानियां यथार्थवाद के इतनी निकट हैं । चरित्र-चित्रण में वे इतने सिद्धहस्त थे कि उनका पात्र आस पास ही दिखलाई पड़ने लगता था ।

❀ ❀ ❀

पं० विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने कथा साहित्य के रूप में हिन्दी को उतना ही दिया है जितना प्रेमचन्द को छोड़कर और किसी ने नहीं ।

उन्हें दर्शन-शास्त्र के अध्ययन का बड़ा चाव था । ज्योतिष में वे पारंगत थे । अपनी आयु और अपनी मृत्यु के संबंध में उन्होंने जानकारी प्राप्त कर ली थी । आश्चर्य तो यह है कि इतने स्थूल और भारी शरीर के कौशिकजी की मृत्यु साधारण सी बीमारी में कुछ ही दिनों में हो गयी ।

वे मर कर भी अमर हैं ।

श्री जैनेन्द्र कुमार

सन् १६३५ ई० के लगभग दिल्ली से पं० रामचन्द्र शर्मा के सपादकत्व में 'महारथी' नामक मासिक पत्र प्रकाशित होता था। मैं उस समय 'महारथी' के सपादकीय विभाग में काम करता था। प० रामचन्द्र शर्मा द्वारा जिन दुबले पतले गौर वर्ण के एक व्यक्ति से मेरा परिचय हुआ वे श्री जैनेन्द्रकुमार थे।

उस समय दिल्ली में हिन्दी-प्रचार का प्रारभ ही था। हम लोगों ने 'हिन्दी-प्रचारिणी-सभा' नामक एक साहित्यिक सस्था को जन्म दिया तथा उसी के तत्वावधान में दिल्ली के साहित्यिक प्रत्येक शनिवार की रात्रि को महारथी-कार्यालय में एकत्र होकर अपनी-अपनी रचनाए सुनाया करते थे। इस प्रकार एकत्र होने वाले साहित्यकारों में श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री ऋषभचरण जैन, श्री जैनेन्द्रकुमार, प० रामचन्द्र शर्मा, श्रीमती चन्द्रदेवी, प० देवी-प्रसाद शर्मा (जो अब हिन्दुस्तान टाइम्स से प्रकाशित होने वाले हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान', के व्यवस्थापक हैं) तथा इन पक्तियों

का सेवक ही मथुरा थे। मैं प्रायः इन कठिन रचनाओं में से 'महारथी' में प्रकाशनार्थ कुछ रचनाएं छांट लेता था। मुझे भलीभांति स्मरण है कि श्री जैनेन्द्रकुमार की सर्वप्रथम कहानी मैंने ही 'महारथी' में प्रकाशित की थी। इस कहानी के सम्बन्ध में मेरा और पं० रामचन्द्र शर्मा का कुछ मतभेद भी था, किन्तु मैंने उसे 'महारथी' में प्रकाशित किया ही।

इस प्रकार दिल्ली में मैं और श्री जैनेन्द्रकुमार बराबर मिलते-जुलते रहे, किन्तु इस संबन्ध में एक बात स्पष्ट ही लिख दूं कि मेरा और श्री जैनेन्द्रजी का यह परिचय कभी घनी मित्रता में न बदल सका। मेरे और जैनेन्द्रजी के स्वभाव बिल्कुल भिन्न थे। मैंने उनके व्यवहार में उस सहृदयता और आत्मीयता के दर्शन नहीं किये जो एक साहित्यकार में होना चाहिये। दिल्ली के लगभग सभी साहित्यकारों के सम्बन्ध में मेरी यही धारणा रही है, किंतु संभव है कि यह कुछ गलत भी हो। सन् १६३० के पश्चात् दिल्ली के साहित्यिक क्षेत्र से मेरा सम्बन्ध लगभग टूट-सा ही गया था। इसके पश्चात् पचीसों बार मैं दिल्ली गया, किन्तु कदाचित ही कभी मेरी भेंट श्री जैनेन्द्रजी से हुई हो।

लगभग सन् १६३७ में पटना में होने वाले अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन के अवसर पर एकाएक श्री जैनेन्द्रजी से फिर भेंट हो गयी। मैंने उस समय अनुभव किया कि जैनेन्द्रजी पहिले की अपेक्षा और अधिक गम्भीर हो गये हैं। यह भेंट अत्यन्त ही साधारण थी और कदाचित् ही उनसे मेरी कोई बातचीत हुई हो। उस समय मेरी यह भी धारणा हुई कि जैनेन्द्रजी में अभिमान की मात्रा आ गयी है।

मेरा स्वभाव भी कुछ विचित्र-सा है। जिससे मिलता हूं उससे हृदय खोलकर मिलना चाहता हूँ। व्यवहार में शुष्कता और गांभीर्य मुझे कुछ असह्य-सा है। मैं व्यर्थ ही मैं किसी से परिचय और घनिष्टता बढ़ाने का आदी नहीं हूँ। श्री जैनेन्द्र-कुमार के सम्बन्ध- में मेरी कुछ ऐसी ही धारणा रही और मैंने निश्चय कर लिया कि मैं कभी उनके निकट आने की चेष्टा न करूंगा।

किन्तु आगे चलकर सम्भवतः जैनेन्द्रजी के सम्बन्ध में मेरी यह धारणा गलत निकली। वर्ष ठीक से मुझे याद नहीं, किन्तु सन् १६४० के बाद ही की बात है। मैं दिल्ली में प० रामचन्द्र शर्मा के यहां ठहरा हुआ था। उन दिनों शिक्षा शास्त्री पं० श्री नारायणजी चतुर्वेदी भी वहीं थे। पं० रामचन्द्रजी शर्मा को इच्छा थी कि उनके सत्कारार्थ एक साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन हो जाय; मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता थी कि यह गोष्ठी उसी संस्था के तत्वावधान में होने जा रही थी जिसके जन्मदाताओं में से मैं भी एक था।

'महारथी-कार्यालय' में यह गोष्ठी बड़ी धूमधाम से हुई। दिल्ली के लगभग तीस चालीस साहित्यकार इसमें उपस्थित थे।

मैं इस गोष्ठी का आनन्द ले रहा था, तभी किसी ने पीछे से मेरे कंधे पर हाथ रक्खा।

मैंने घूमकर देखा। मेरे कंधे पर हाथ रक्खे हुये श्री जैनेन्द्रजी कह रहे थे 'इतने मोटे हो गये हो कि पहिचाने भी नहीं जाते।'

मैंने बात बनाते हुये कहा, अच्छा जैनेन्द्रजी हैं। भई, इतने दुबले हो गये हो कि मैं जल्दी में पहिचान भी न सका।'

श्री जैनेन्द्रकुमार

श्री जैनेन्द्रजी ने उस समय जिस आत्मीयता के साथ मुझसे बातचीत की उससे उनके संबंध में एक गलत धारणा अपने हृदय में पालते रहने का मुझे बड़ा दुःख हुआ। जैनेन्द्रजी इतने शुष्क और सहृदयता से परे नहीं हैं जितना मैं उन्हें अब तक समझता आया था। उनकी आकृति तथा उनके बात करने का कुछ ढंग ऐसा है जिससे यह अनुमान लगा लेना गलत नहीं है कि वे बड़े रूखे और अभिमानी व्यक्ति हैं। उनके कुछ निकट आ जाने पर यह धारणा गलत सिद्ध हो जाती है। जैनेन्द्रजी सहृदय और मिलनसार व्यक्ति हैं तथा वर्षों न मिलने पर भी वे अपने किसी मित्र को भूलते नहीं।

उस दिन गोष्टी के अवसर पर ही उन्होंने अन्य साहित्यकारों से मेरे सामने ही कहा कि 'मेरी प्रथम कहानी का संपादन धवनजी ने ही किया है।'

उनकी इस बात ने मेरे हृदय में उनके लिये एक ऐसा स्थान बना लिया जिसमें उनके चरित्र के संबंध में अब किसी भी प्रकार की कोई गलत धारणा पड़ी ही नहीं रह गयी है।

श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

सन् १९२३ ई० के लगभग मैंने कहानीकार बनने का प्रयत्न किया था, किंतु लाख चेष्टा करने पर भी असफल ही रहा। कुछ कहानियां गढ़कर सुप्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ भेजीं, किंतु प्रकाशित करना तो दूर रहा, किसी सम्पादक ने प्राप्ति-स्वीकार भी भेजना कदाचित् उचित नहीं समझा।

कहानी के क्षेत्र से निराश होकर मैंने कविता से नाता जोड़ने का संकल्प किया। कुछ कविताएं लिखने भी लगा, किंतु 'गुरु बिन विद्या' की समस्या सामने आ खड़ी हुई। उन दिनों कानपुर में 'त्रिशूल' के तराने बहुत प्रचलित थे, मैंने एक बार उनके दर्शन करने की कल्पना की। सुप्रसिद्ध कवि श्री जगदम्बा-प्रसाद मिश्र 'हितैषी' के साथ जाकर मैंने त्रिशूल कवि के दर्शन किये। बाद में पता चला कि राजनीतिक कविताओं से मुर्दों में भी प्राण फूंकने वाले त्रिशूल कवि ही श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' हैं। 'सनेहीजी' के इतनी सरलता के साथ अनायास

दर्शन हो जायंगे इस बात की तो मैंने कभी कल्पना ही न की थी। मैं उनकी कविताएं प्रायः 'सरस्वती' में पढ़ा करता था तथा मेरा अनुमान था कि वे प्रयाग ही में रहते हैं।

'सनेहीजी' का यह पहिला दर्शन था। मैंने दूसरे दिन उनको अपनी एक रचना सुनाई। सनेहीजी उसे सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि 'तुममें कविता लिखने की प्रतिभा है, प्रयत्न करने पर तुम सुन्दर कविताएं लिख सकोगे।' बस प्रोत्साहन मिल गया और मैं कविताएं गढ़ने लगा। मेरी एक कविता सुनकर तो सनेहीजी बहुत ही प्रसन्न हुए थे तथा उस कविता को उन्होंने 'सुकवि' में प्रमुख स्थान दिया। इसके बाद ही मेरी कविताएं यत्र-तत्र पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। थोड़े दिनों पश्चात् श्री सनेही ने मुझे कानपुर से प्रकाशित होने वाले दैनिक 'वर्तमान' में संयुक्त सम्पादक के पद पर नियुक्त करवा दिया। इस प्रकार मेरे पत्रकार बनने का श्रेय आदरणीय श्री सनेहीजी को है।

सनेहीजी के अत्यन्त निकट रहकर मैंने काव्य-साहित्य का अच्छा-खासा अध्ययन किया। उनकी कृपा से आधुनिक कवियों के सपर्क में आया जिससे मेरी लेखनी को प्रगति मिलती गई। मेरे साहित्यिक जीवन को ऊंचे स्तर पर ले जाने में श्री सनेहीजी का हाथ है।

पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' देखने में कुछ बड़े गम्भीर, अभिमानी और क्रोधी से प्रतीत होते हैं. किंतु जो लोग उनके निकट हैं वे भली भांति जानते हैं कि वे कितने सरल स्वभाव के, उदार. निरभिमानी तथा आत्माभिमानी हैं। उनके स्वभाव

में व्यर्थ का अहंकार तो छू भी नहीं गया है, किंतु साथ ही साथ उनमें कवि का-सा वह 'अह' भाव देखने को मिलेगा जिसके बिना कोई भी व्यक्ति कवि कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। श्री सनेहीजी जन्मजात कवि हैं। उनके सम्बन्ध में एक बात बड़ी ही विचित्र है; वह यह कि उन्हें कविता लिखने के लिये 'मूड' में आने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे जिस समय भी चाहें कविता लिख सकते हैं। भावों के साथ ही साथ उनको भाषा पर इतना अच्छा अधिकार है कि उनके मुंह से मुहावरेदार ही भाषा निकलती है। उन्हें उपयुक्त शब्दों के लिये न तो सोचना ही पड़ता है और न कोष को ही उलटना-पलटना पड़ता है, ऐसा प्रतीत होता है कि उनके शब्द भी भाव के साथ ही साथ मस्तिष्क में जन्म लेते चले जाते हैं। उनके भाव गहन होते हैं, किन्तु जिस भाषा में वे व्यक्त किये जाते हैं वह इतनी सरल, सुगम एवं सुस्पष्ट होती है कि चकित हो जाना पड़ता है। हिन्दी में उनकी अपनी निज की परम्परा है और उस परम्परा पर रचनाएं लिखकर बहुत से साहित्यकार उद्भट कवि बन गये। भ्रष्ट भाषा लिखने वाले बहुत से तुक्कड़ उनके सपर्क में आकर सुन्दर और मंजे हुये कवि हो गये। उन्होंने एक दो नहीं, सैकड़ों ही कवियों की भाषा को 'इसलाह' देकर परिमर्जित कर दिया। उनके सैकड़ों ही शिष्य हैं, जिनका हिन्दी-संसार में अच्छा-खासा स्थान है।

श्री सनेहीजी उन साहित्यकारों में से हैं जिनका जन्म केवल सरस्वती-आराधना के लिये ही होता है; लक्ष्मी के द्वार पर जाने की उन्हें कम चिन्ता रहती है। मैंने सैकड़ों बार

सनेहीजी के संपर्क में आकर यह अनुभव किया कि धन की अपेक्षा उन्हें अपना आत्म-सम्मान अधिक प्रिय है। वे आत्म-सम्मान खोकर कुबेर की निधि भी प्राप्त करना पसन्द न करेंगे।

वे सभी प्रकार की कविताएं लिखने की क्षमता रखते हैं, किंतु छप्पय, सवैया और घनाक्षरी के वे आचार्य हैं उनकी किसी कविता में दोष निकालना बड़े से बड़े साहित्याचार्य के लिये भी लोहे के चने ही हैं।

मैं अब भी उनके अत्यन्त निकट हूँ। वे मुझसे बड़ा स्नेह करते हैं और मेरी प्रगति पर उन्हें बड़ा संतोष है। बहुत से साहित्यकार उनके निकट जाने से डरते हैं किंतु मैं सदैव निर्भय होकर उनके पास जा पहुँचता हूँ क्योंकि मैं भली भांति जानता हूँ कि उनकी उस उग्र मूर्ति और आत्माभिमान से तपी हुई तेजस्वी आकृति के अन्दर मोम सा सरल एक कवि हृदय छिपा हुआ है जो स्नेह-वर्षा से उनके 'सनेही' नाम को सार्थक करता रहता है।

कविवर 'सनेही' आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का अनुसरण करने वाले उन साहित्यकारों में से हैं जिन्हें हिन्दी का निर्माता कहा जा सकता है। हिन्दी तथा हिन्दी के पाठकों पर उनका ऋण है जिसे सरलता से चुकाया नहीं जा सकता। उन्होंने अपनी कविताओं से उस समय हिन्दी-साहित्य की सेवा की है जिस समय उनकी श्रेणी के साहित्यकारों की संख्या केवल अंगुलियों तक सीमित थी। हिन्दी में राष्ट्रीय कविताओं के तो वे जनक हैं; 'त्रिशूल' उपनाम से राष्ट्रीय कविताएं

लिखकर उन्होंने देशवासियों को स्वतंत्रता की बलिवेदी पर मर मिटने का संदेश दिया।

कानपुर के नागरिक अपने इस वयोवृद्ध साहित्यकार के लिये अटूट श्रद्धा रखते हैं। वर्तमान युग में द्विवेदी-परम्परा के वे सर्वश्रेष्ठ कवि हैं तथा इतनी परिमार्जित और प्रांजल भाषा में लिखने वाला ऐसा कोई कवि नहीं है जो उनका स्थान ले सके।

श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

पंडित भगवतीप्रसाद वाजपेयी

पंडित अयोध्याप्रसाद वाजपेयी 'सेवक' कानपुर के एक पुरानी परम्परा के कवि हैं। वे प्रायः घूम घूमकर साहित्यिक पुस्तकें भी बेचा करते थे। मुझे सदा से ही पुस्तकें पढ़ने का चाव रहा है, अतएव मैं उनसे बहुत-सी पुस्तकें खरीदकर पढ़ा करता था। बहुधा मैं पुस्तकें उनसे ले लेता था और सुविधानुसार थोड़ा-थोड़ा करके उनका मूल्य देता रहता था।

सन् १९३५ या १९३६ का वर्ष था—मुझे ठीक से स्मरण नहीं। मैं मेज के सामने बैठा हुआ कुछ लिखने में व्यस्त था। इसी समय सेवकजी सामने आकर खड़े हो गये। उनके साथ एक सज्जन और थे।

मैंने सिर उठाकर सेवकजी की ओर देखा और फिर लिखने लगा। मुझे इस समय उनका आना अच्छा न लगा, क्योंकि वे पुस्तकों का तगादा ही करने आये थे।

मुझे चुप देखकर सेवकजी बोले 'भैया, आज बड़ी

आवश्यकता थी, अगर...'

मैं किंचित् क्रोध में भरकर बोला 'मैं तो तुम्हारे ही लाभ के लिये पुस्तकें खरीदता हूँ और तुम दो ही चार दिन में सिर पर आ खड़े होते हो। मुझे तुम्हारा यह व्यवहार अच्छा नहीं लगता।'

सेवकजी बोले 'बात यह है कि मुझे (अपने साथी की ओर संकेत करके) इन महाशय को रुपया देना है, तभी आपके पास चला आया। आपकी बड़ी कृपा हो यदि दाम दे दें।'

यह सब मुझे असह्य था। सामने मेज पर सेवकजी से खरीदी हुई दोनों पुस्तकें रखी हुई थीं। मैंने दोनों पुस्तकें उठाकर सेवकजी की ओर फेंक दीं और कहा 'ले जाइये इन्हें मुझे नहीं खरीदना है।'

सेवकजी ने धीरे-से पुस्तकें उठा लीं। उनमें से एक पुस्तक का नाम 'पतिता की साधना' था।

सेवकजी ने अपने साथी की ओर देखा। वे मुस्करा रहे थे। मुझे उनका मुसकराना अच्छा न लगा।

सेवकजी बोले 'आपका परिचय करा दूं इन महाशय से। आप हैं प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी।'

मैं एकाएक कुर्सी से उठकर खड़ा हो गया और बोला 'क्षमा कीजियेगा। सेवकजी को आपका परिचय आते ही देना था। बैठिये।'

मुझे 'पतिता की साधना' सेवकजी के आगे फेंक देने वाली बात पर बड़ी झेंप लग रही थी, क्योंकि उक्त पुस्तक के लेखक स्वयं वाजपेयीजी ही थे।

प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी

मैंने कुछ झेंपते से स्वर में कहा 'क्षमा कीजियेगा वाजपेयीजी, सेवकजी से मेरा इसी प्रकार का व्यवहार चलता रहता है।'

वाजपेयीजी मुस्कराकर बोले 'मैं तो केवल हिन्दी की पुस्तकों का वर्तमान और भविष्य मात्र ही देख रहा था। मैंने देख लिया कि कितने प्रयत्न से हिन्दी की पुस्तक बिकती है।'

थोड़ी देर में कदाचित् सेवकजी चले गये। मैं वाजपेयीजी के साथ लगभग घंटा भर तक बात करता रहा। यह बातचीत कथा-साहित्य के सम्बन्ध में ही हुई थी।

अन्त में मैंने उनसे कहा 'आप यहां ठहरे कहां हैं?'

क्षण भर चुप रहकर वाजपेयीजी बोले 'सेवकजी के यहां ही ठहर गया हूं।

मैं बोला 'यदि आपत्ति न हो तो मेरे स्थान पर चलकर ठहरिये।'

वाजपेयीजी कुछ सोचकर बोले 'आपत्ति क्या हो सकती है, जहां कहिये वह ठहर जाऊं।'

मैं प्रसन्न होकर बोला 'तो फिर चलिये, मेरे ही साथ भोजन कीजियेगा और वहीं आराम कीजियेगा।

वाजपेयीजी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। रात्रि के आठ बज चुके थे अतएव मैं वाजपेयीजी को साथ लेकर अपने घर आ गया।

इस बार तीन दिन वाजपेयीजी मेरे यहां ठहरे। पहिली ही भेंट में मैं उनके बहुत ही निकट हो गया। वाजपेयीजी का व्यक्तित्व कुछ ऐसा ही है जिससे उनसे बड़ी जल्दी आत्मीयता स्थापित हो जाती है। उनसे बात करने में कभी जी नहीं ऊबता।

इन दिनों मैंने अपना पहिला उपन्यास 'चिनगारी' लिखकर समाप्त किया था। मैंने उसका अधिकांश भाग वाजपेयीजी को सुनाया। उन्होंने उसे पसन्द करके मुझे प्रोत्साहित किया।

कुछ ही मास बाद मेरी दूसरी भेंट पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी से सुप्रसिद्ध लेखिका श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर के घर पर हुई। उस समय श्रीमती ठाकुर कानपुर से कुछ प्रकाशन का कार्य करना चाहती थीं। वाजपेयीजी ने उन्हें प्रोत्साहित किया तथा मेरा और उनका एक ऐसा समझौता करा दिया जिसके फलस्वरूप मेरा प्रथम उपन्यास 'चिनगारी' उन्हीं के यहां से प्रकाशित हुआ।

इसके पश्चात् लगभग वर्ष भर तक मुझे वाजपेयीजी के दर्शन नहीं हुये। कदाचित् इस बीच वे कानपुर आये भी नहीं। जब वे आये तो मैंने उन्हें अपना दूसरा उपन्यास 'कुबेर' दिखलाया जिसे मैंने हाल में लिखकर तैयार किया था। इस उपन्यास को पढ़कर वाजपेयीजी बहुत मुग्ध हुये।

मैंने कहा 'मेरे प्रथम उपन्यास 'चिनगारी' की भूमिका श्री कौशिकजी ने लिखी थी, क्या मैं आशा करूं कि 'कुबेर' की भूमिका आप लिखेंगे ?'

प्रसन्न होकर वाजपेयीजी बोले 'बड़े शौक से। मुझे आपका यह उपन्यास बहुत पसन्द है, कहां से प्रकाशित हो रहा है ?'

'गंगा पुस्तक माला लखनऊ से' मैंने उत्तर दिया।

'ठीक है' वाजपेयीजी संतुष्ट होकर बोले।

× × ×

उक्त भेंट के पश्चात् फिर कई वर्षों तक पं० भगवतीप्रसाद

वाजपेयी से मेरी भेंट नहीं हुई। सम्भवतः वे बम्बई जाकर रहने लगे थे।

वाजपेयीजी से फिर उस समय भेंट हुई जब हम लोग 'सुमित्रा' के प्रकाशन की योजना बना रहे थे। सबसे अधिक प्रोत्साहन तथा सहयोग मुझे 'सुमित्रा' के प्रकाशन में वाजपेयीजी से ही मिला। 'सुमित्रा' के प्रथम अंक के लिए आने वाली कहानियों में प्रथम कहानी पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी की ही थी। 'सुमित्रा-परिवार' से इनका घनिष्ट सम्बन्ध है।

पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने हिन्दी के कथा-साहित्य की गत तीस वर्ष से अनवरत सेवा की है। वे उन श्रमजीवी साहित्यकारों में से हैं जिन्होंने साहित्य को ही अपनी जीविका समझकर जीवन भर हिन्दी के लिए संघर्ष किया है।

वाजपेयीजी मिलनसार एवं स्वाभिमानी व्यक्ति हैं। सबसे बड़ा गुण जो मुझे उनमें देखने को मिला वह यह कि वे अपने साहित्य के सम्बन्ध में कभी प्रचार करते हुए नहीं पाये गये। हिन्दी के लेखकों में अपने सम्बन्ध में प्रोपेगेंडा करने का एक रोग है। बड़े-बड़े कलाकारों में मुझे यह रोग देखने को मिला। प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी इस रोग से मुक्त हैं। इसके अतिरिक्त वे अन्य लेखकों के सम्बन्ध में भी कभी हीन बातें करते नहीं पाये जाते। छोटे से छोटे लेखकों में वे घुल मिल जाते हैं तथा उन्हें प्रोत्साहन देते हैं। प्रसन्न रहना और मुस्कराकर बोलना उनके स्वभाव में है।

उन्हें गुमराह भी सरलता से किया जा सकता है। वे प्रायः ऐसे व्यक्तियों के संपर्क में आ जाने का विरोध नहीं कर

पाते जिनसे उनकी प्रसिद्धि को धक्का पहुँचता है। जिस·ति
की बातों का बहुत जल्दी विश्वास भी कर लेते हैं और
विश्वास उनका जल्दी हटता भी नहीं है।

पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने हिन्दी कथा-साहित्य को बहु
कुछ दिया है। वे कथा-साहित्य के एक स्तम्भ माने जाते हैं
उनकी कहानियों में मनोविज्ञान के दर्शन होते हैं तथा उन
उपन्यासों में यथार्थवाद रहता है। उनके पात्र सजीव औ
आस-पास के ही रहते हैं।

इधर उनकी कहानियां कुछ दर्शन लिये हुए होती हैं।
स्वयं भी आजकल कुछ दार्शनिक से हुए जा रहे हैं।

प० भगवतीप्रसाद वाजपेयी में अभिमान नहीं है, कि
आत्माभिमानी प्रचुरमात्रा में है। उनसे मिलकर चित्त प्रस
होता है और तबियत बात करने की होती है। वे सुन्दर हिन
भाषा ही में बातचीत करते हैं और संयत ढंग से अपने भा
को व्यक्त करते हैं।

वे कवि भी हैं। उनका एक कविता-संग्रह भी प्रकाशि
हो चुका है। कविता पढ़ने का ढंग उनका बड़ा सुन्दर औ
आकर्षक है।

वाजपेयीजी अब स्थायी रूप से कानपुर ही में रहते हैं
अब तो प्रायः रोज ही उनसे भेंट हो जाया करती है। इ
कुछ दिनों से उनका इरादा एक सुन्दर-सी कथा साहित्य
पत्रिका निकालने का है। यदि उनका यह संकल्प कार्य
में परिणित हो गया तो निश्चय ही कथा-साहित्य के अंग
पूर्ति होगी।

पं० भगवतीप्रसाद वाजपेय

पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी हिन्दी के सुपरिचित कथाकार, उपन्यासकार, लेखक और कवि हैं। अब तक आपके लगभग ४५ उपन्यास और कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। हम लिख चुके हैं कि आपके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह साहित्य के बल पर ही प्रारम्भ से लेकर आज तक टिका रहा है। हिन्दी-संसार में कतिपय ही ऐसे सौभाग्यशाली साहित्यकार मिलेंगे जिन्होंने जीवन संघर्ष के सभी अभिशापों को सहन करके भी साहित्य को ही अपनी जीविका का साधन बनाकर सफलता प्राप्त की हो। पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी इसी प्रकार के एक सौभाग्यशाली साहित्यकार हैं। साहित्य उनका व्यसन नहीं वरन् जीवन रहा है।

उनकी कहानियां मानव-जीवन के उस स्तर का स्पर्श करती हैं जिन्हें हम अपने दैनिक जीवन में देखते हुये भी नहीं देखते हैं। दैनिक जीवन की दार्शनिकता के साथ उनकी लेखिनी क्रीड़ा करती रहती है तथा हमारे सामने ऐसी समस्याओं का स्पष्टीकरण करती है जिनको हम अपने आस-पास तो देखते हैं किन्तु उनके हल का विवेक हम में कदाचित् ही जागृत होता है। वाजपेयीजी की लेखनी का चमत्कार हमको मनोविज्ञान की टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में घुमाकर ऐसे स्थान पर छोड़ देता है जहां हम जीवन की परिभाषा, सार्थकता तथा हल सभी कुछ पा जाते हैं।

आपकी एक कहानी का फिल्म भी तैयार हो चुका है तथा अन्य कई फिल्मों में आपके संवाद हैं।

श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव

सुप्रसिद्ध कथाकार कौशिक के कमरे में मैं प्राय: एक स्थूल शरीर तथा गम्भीर आकृति के व्यक्ति को बैठे देखा करता था। कौशिकजी ने ही उनसे मेरा परिचय कराया। ये श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव थे। इस समय उनका एक ही उपन्यास 'विदा' प्रकाशित हुआ था जिसकी सर्वत्र चर्चा थी। मैं 'विदा' के लेखक से मिलकर बहुत ही प्रसन्न हुआ था।

श्री प्रतापनारायणजी श्रीवास्तव देखने में जितने गम्भीर मालूम पड़ते हैं, कदाचित् परिचय हो जाने के पश्चात् उतने गम्भीर नहीं रह जाते। वे बड़े मिलनसार हंसमुख और शिष्ट हैं। अपने सम्बन्ध में व्यर्थ का प्रोपेगेंडा करने वाले लेखकों में वे नहीं हैं। वे प्राय: घंटों आपके साथ रहेंगे, किन्तु आपको उनके साहित्यकार होने का भी भ्रम न होगा। सीधे-सादे साधारण से श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव बी० ए०, एल-एल० बी० हैं तथा लम्बी अवधि तक जोधपुर स्टेट में जज के ऊंचे

पद पर आसीन रह चुके हैं। जिस समय मेरी उनसे प्रथम बार भेंट हुई थी उस समय कदाचित् वे कानपुर में वकालत करते थे। इसके बाद उनसे प्रायः कौशिकजी के यहां ही भेंट होती रही। यदि मैं यह कहूँ कि कौशिकजी के यहां आने-जाने व बैठने-उठने वाले साहित्यकारों में से सबसे अधिक मेरा ध्यान श्री प्रतापनारायणजी श्रीवास्तव की ओर ही आकृष्ट हुआ तो कुछ असगत न होगा। वे साहित्यिक चर्चा में प्रायः कम भाग लिया करते थे। अधिकतर उनका समय अन्य साहित्यकारों की बातें सुनने में ही व्यतीत होता था।

थोड़े दिन बाद ही वे जज होकर जोधपुर चले गये और फिर लम्बी अवधि तक उनसे मेरी भेंट न हो सकी। इस बीच उनके सुप्रसिद्ध उपन्यास 'विजय' और 'विकास' गंगा पुस्तकमाला कार्यालय लखनऊ से प्रकाशित हुए। उनको पढ़कर मैं उनकी ओर अधिक आकर्षित हुआ। न जाने क्यों उनसे फिर मिलने की इच्छा बलवती होने लगी। एक बार मैं जोधपुर भी गया किंतु दुर्भाग्यवश उनके दर्शन न कर सका।

अब इधर दो तीन वर्षों से श्री प्रतापनारायणजी श्रीवास्तव कानपुर में ही स्थायी रूप से रह रहे हैं। स्थानीय डेवलपमेंट बोर्ड के वे हिन्दी विशेषज्ञ के पद पर आसीन हैं। हाल में ही उनके दो अत्यन्त सुन्दर उपन्यास 'बयालीस' तथा 'विसर्जन' प्रकाशित हुए हैं जो हिन्दी ससार के सर्वोत्तम उपन्यासों में माने जाने योग्य हैं। विसर्जन' तो पजाब यूनीवर्सिटी के बी० ए० के कोर्स के लिये स्वीकृत हो चुका है।

श्री प्रतापनारायणजी श्रीवास्तव की छोटी कहानिया भी बड़ी

मार्मिक होती है। सामयिकता उनकी कहानी का विशेष गुण है। चरित्र-चित्रण की कला में वे दक्ष हैं; ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने आस-पास के व्यक्तियों को सदैव खोजपूर्ण दृष्टि से देखने के आदी हैं। उनके पात्रों में आप प्रायः ऐसे व्यक्तियों को पायेंगे जो आपके लिये नये न प्रतीत होंगे। साथ ही साथ वे पात्र साधारण होते हुए भी कुछ असाधारण से मालूम पड़ते हैं—क्योंकि ऐसे भी व्यक्ति हमको जीवन में मिलते रहते हैं जो देखने सुनने में अत्यन्त साधारण होते हैं किन्तु उनमें जीवन संघर्ष के वे तत्व मिलते हैं जिनको कथाकार को खोज रहती है। श्री प्रतापनारायणजी श्रीवास्तव ऐसे व्यक्तियों को खूब पहिचानते हैं। और यही कारण है कि उनके पात्र साधारण होते हुए भी पाठक का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

उनकी शैली आधुनिक है। उसमें पुरानेपन की बू नहीं आती। अपनी भाषा को सरल, सुगम और मनोरंजक बनाने के लिए वे प्रायः ऐसे शब्दों, वाक्यों और मुहावरों का प्रयोग करते हैं जो पाठक को रुचिकर प्रतीत होते हैं। वे पाठक की रुचि समझते हैं। वे गम्भीर एवं अगम्भीर दोनों प्रकार के पात्रों की रचना में पटु है, इसी प्रकार वे दोनों प्रकार की भाषाओं का प्रयोग भी भली-भांति जानते हैं। उनकी भाषा में कहीं भी शिथिलता के दर्शन नहीं होते। उनकी शैली विवरणात्मक होते हुये भी पाठक को थकाती नहीं है।

श्री प्रतापनारायणजी श्रीवास्तव की मनोवृत्ति अन्वेषक है। उन्हें प्रयोग करने का बड़ा चाव है। वैज्ञानिक प्रयोगों की ओर उनकी विशेष रुचि है। उनके उपन्यासों में इस प्रकार के

प्रयोगों की बात पढ़ने को मिलती है। एक बार इन्होंने अपने एक प्रयोग की एक अत्यन्त ही मनोरंजक कथा मुझे सुनायी। वह प्रयोग क्लोरोफार्म के सम्बन्ध में था।

मैंने उनसे पूछा, 'ऐसे प्रयोग तो प्रायः घातक भी सिद्ध हो जाया करते हैं।'

वे मुस्कराकर बोले 'अरे भाई, मैं तो यह जानना चाहता था कि क्लोरोफार्म से आदमी किस प्रकार बेहोश हो जाता है। उस समय मनुष्य की कैसी दशा हो जाती है। हमको सीमित मात्रा में ही उस दिन क्लोरोफार्म मिला था, अगर कहीं अधिक मिल जाता तो सम्भव है कि आज मैं यहां आपसे बात करने के लिए उपस्थित ही न होता। वह तो सौभाग्य से उस दिन प्राण बच गये।'

कहते-कहते वे ठहाका मारकर हंसने लगे।

मैंने पूछा, 'इस प्रकार के प्रयोगों के फल पर आपका दृढ़ विश्वास है ?'

वे दृढ़ता के साथ बोले, 'क्यों नहीं। मैंने अपने उपन्यासों में प्राय जिन औषधियों का वर्णन किया है, उनके सम्बन्ध में मैं स्वयं प्रयोग कर चुका हूं।'

मैंने देखा कि श्री प्रतापनारायणजी श्रीवास्तव दृढ़ विचार के व्यक्ति हैं। उन दिनों वे अस्पताल में बीमार थे और उनका आपरेशन होने वाला था। आपरेशन साधारण न था, किन्तु मैंने कभी उन्हें इस सम्बन्ध में चिन्तित नहीं देखा। मैं प्राय उनसे मिलने जाया करता था किन्तु वे सदा आपरेशन के सम्बन्ध में बहुत कम बात किया करते थे। मैं घंटों उनके कमरे

में बैठकर उनसे बात करता रहता, किन्तु वे कहकहे ही लगाते रहते थे।

हिन्दी के पुराने साहित्य-सेवी पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल उनके अनन्यतम मित्रों और साथियों में से हैं। शुक्लजी उन दिनों बड़े चिन्तित रहा करते थे, किन्तु प्रतापनारायणजी उन्हें देखकर सदैव मुस्करा पड़ते थे।

आपरेशन के बाद जब मैं उनसे मिलने गया तो उन्होंने अपनी बात तो पीछे कर दी और शुक्लजी के सम्बन्ध की बात करने लगे। वे बोले 'जब मैं आपरेशन के लिये ले जाया जाने लगा तो शुक्लजी की आंखों में आंसू आ गये। उस समय मैंने अनुभव किया कि मेरे जीवन से जितना मोह मुझे नहीं है उतना शुक्लजी को है। मैं तो जरा भी चिन्तित नहीं हुआ।'

श्री विष्णुदत्तजी शुक्ल बड़े ही सरल और सहृदय व्यक्ति हैं। वे मुस्कराकर बोले 'प्रतापनारायणजी यों ही कहा करते हैं। मेरी आंखों में आंसू आ जाने वाली बात बिलकुल गलत है।'

श्री प्रतापनारायणजी मुस्कराकर चुप हो गये। न जाने क्यों मुझे इन दो साहित्यकारों की मित्रता बड़ी मनोरंजक और भली लगती है। दोनों ही मित्र प्रायः साथ ही साथ घूमने निकलते हैं।

मेरी श्री प्रतापनारायणजी श्रीवास्तव से बड़ी अभिन्नता है। मैं उन्हें मित्र समझता हूं और उन्हें श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखता हूँ। उनसे मिलकर चित्त बड़ा प्रसन्न होता है। वे प्रायः बातचीत करने में मुस्कराते ही रहते हैं। उनमें अपनापन प्रचुर मात्रा में है जिससे सदैव उनसे मिलते रहने की तबियत

होती है ।

इनसे प्रायः मास में एक दो बार भेंट हो जाया करती है। वे जब मिलते हैं तो प्रायः मैं भूल जाता हूँ कि वे इतने बड़े साहित्यकार हैं । मैं तो उन्हें अपना अभिन्न मित्र और हितैषी समझता हूँ। वे भी साहित्यकार की भांति प्रायः किसी से नहीं मिलते—मैं पहिले ही लिख चुका हूँ कि इनकी बातचीत से इनके इतने ऊंचे कथाकार होने का अनुमान कोई नहीं लगा पाता ।

इनमें एक गुण और है जिसका उल्लेख परमावश्यक है। वे प्रत्येक व्यक्ति का अटूट सत्कार करते हैं। यह असम्भव है कि प्रतापनारायणजी से मिलकर कोई विना मुह मीठा किये लौट आये। किसी का भी सत्कार करके वे बड़े प्रसन्न होते हैं।

हिन्दी साहित्य के निर्माताओं में निश्चित रूप से उनकी गणना है। इन्होंने हिन्दी के कथा-साहित्य को उपन्यासों और कहानियों के रूप में वह देन दी है जो स्मरणीय है। हिन्दी-संसार को अभी उनसे बड़ी आशाएं हैं।

श्रीवृन्दावनलाल वर्मा

भेंट होने पर श्री वृन्दावनलाल वर्मा के विषय में जैसी कल्पना की थी ठीक वैसा ही उन्हें पाया। मुझे सर वाल्टर स्कॉट का 'केनिलवर्थ' उपन्यास बहुत पसन्द है। जब मैंने श्री वर्माजी का 'विराटा की पद्मिनी' नामक उपन्यास पढ़ा तो मुझे सर वाल्टर स्काट की शैली याद आने लगी। 'विराटा की पद्मिनी पढ़ते समय मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा जैसा मैं स्काट का 'केनिलवर्थ' पढ़ रहा हूँ। यद्यपि दोनों के कथानकों में किसी भी प्रकार से कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी न जाने क्यों मुझे दोनों पुस्तकों के लेखकों में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। इस उपन्यास के पढ़ते ही श्री वर्माजी के प्रति मेरे विचार बहुत ऊंचे हो गये, और तभी से मेरा यह निज का मत है कि श्री वर्माजी वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ कथाकार हैं।

मैंने श्री वर्माजी के लगभग सभी उपन्यास भलीभाँति पढ़े हैं तथा प्रत्येक उपन्यास में मुझे नवीनता और मौलिकता के

दर्शन हुये हैं। वर्माजी के उपन्यास के कथानक पाठक को बरबस अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इनकी शैली अपनी निज की शैली है तथा इनकी भाषा में बनावटीपन नहीं है। मैं तो यह कहूँगा कि इनकी भाषा पाठक को अपनी निज की भाषा-सी ज्ञात होती है—अपनी भाषा के इस गुण को अक्षुण्ण रखने के लिये वर्माजी प्रायः व्याकरण के नियमों का उल्लंघन भी कर देते हैं, किन्तु पाठक को इनसे क्या ? वह तो इनकी भाषा में वह सब कुछ पा जाता है जिसे वह प्रायः पसन्द करता है। वर्माजी, ऐसा प्रतीत होता है, भाषा को व्यर्थ में मोड़कर व्याकरणाचार्यों को प्रसन्न नहीं करना चाहते। वे तो स्वाभाविकता तथा मुहाविरों को अधिक पसन्द करते हैं। मेरा निज का मत है कि भाषा का रूप लेखक बनाते हैं, व्याकरणाचार्य नहीं। जो लेखक स्वयं भाषा का निर्माण करने की क्षमता नहीं रखते वे ही व्याकरणाचार्यों से डरकर चलते हैं। विश्वविख्यात कथाकार टामस हार्डी, चार्ल्स डिकेन्स तथा मैक्सिम गोर्की की भांति श्री वृन्दावनलाल वर्मा पाठकों को कथानक के साथ ही साथ अपनी भाषा भी देते हैं। कथाकार का यह सबसे बड़ा गुण है और श्री वृन्दावनलाल वर्मा इसी प्रकार के कथाकार हैं।

इससे पूर्व श्री वृन्दावनलाल वर्मा से मेरी कभी भेंट नहीं हुई थी, फिर भी इनकी कृतियों को पढ़कर मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मैं उनके बहुत निकट हूँ। कई बार झांसी जाकर उनके दर्शन करने की इच्छा हुई किन्तु ऐसा संयोग मिल ही न सका। झांसी से आने वाले प्रत्येक साहित्यकार से मैं प्रश्न किया करता था, वर्माजी कैसे हैं ? लोगों से मिलने-जुलने

पर वे किस प्रकार की बातें करते हैं ? उनका व्यवहार साहित्य-कारों के प्रति कैसा रहता है ! वे हंसमुख तो हैं न ? मिलनसारी उनके स्वभाव में तो प्रचुर मात्रा में होगी !' इत्यादि इत्यादि ।

कुछ मास पूर्व झांसी के प्रसिद्ध कथाकार श्री अशान्त त्रिपाठी मिलने आये थे ! वे मेरे घनिष्ठ मित्रों में से हैं ।

मैंने उनसे पूछा 'वर्माजी अच्छी तरह है न ?'

उन्होंने कहा, 'हां, इधर उनका नया उपन्यास 'मृगनयनी' प्रकाशित हुआ है। वह बहुत ही सुन्दर उपन्यास है।'

क्षण भर रुककर मैंने कहा, उनके तो सभी उपन्यास सुन्दर हैं। अभी तक मैं 'मृगनयनी' नहीं पढ़ सका हूँ। उनका प्रत्येक उपन्यास खरीदकर मैंने अपने पास रखा है।'

अशान्तजी ने कहा, 'आप कभी वर्माजी से मिले हैं ?'

मैंने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाते हुए कहा, 'ऐसा सौभाग्य मुझे अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। किसी दिन झांसी आकर उनके दर्शन करूंगा ।'

श्री अशान्तजी बोले, 'आजकल तो वे झांसी में नहीं हैं। जब वे आ जायगे तो मैं आपको सूचना दे दूंगा।'

मैं कुछ देर तक चुप रहा फिर बोला, 'वर्माजी कैसे हैं ? क्या वे लोगों से अधिक मिलना-जुलना पसन्द करते है।'

श्री अशान्तजी बोले, वर्माजी बड़े सहृदय और मिलनसार हैं। आप उनसे मिलकर बड़े प्रसन्न होंगे। वे वृद्ध होकर भी सदा नवयुवकों की-सी बात करते हैं।'

मैं बोल उठा, कथाकार में तो यह गुण होना ही चाहिये। जो कुछ आप कह रहे हैं, उनकी कृतियाँ पढ़कर यही अनुमान

श्री वृन्दावनलाल वर्मा

लगाने पर विवश होना पड़ता है। मैंने उनके विषय में ऐसी कल्पना भी की है।

श्री यशानन्दजी ने कहा, 'आप झांसी अवश्य आइये। आप वर्माजी से मिलकर बड़े प्रसन्न होंगे।'

मैं झांसी जाने के प्रयत्न ही में रहा कि एक दिन मुझे सूचना मिली कि श्री वृन्दावनलालजी वर्मा अखिल भारतीय कथाकार-सम्मेलन के सम्बन्ध में कानपुर आ रहे हैं। चित्त प्रसन्न हो गया।

मेरे मित्र तथा कथाकार-सम्मेलन के संयोजक श्री यशोविमलानन्द ने मुझे बतलाया कि वर्माजी का पत्र आ गया है और वे निश्चितरूप से कानपुर आ रहे हैं।

मैं श्री वर्माजी का अधिक से अधिक नैकट्य चाहता था अतएव मैंने कहा, 'यदि अनुचित न हो तो श्री वृन्दावनलाल वर्मा को मेरे ही यहां ठहरा दीजिये।'

श्री यशोविमलानन्द ने कहा, 'हां-हां, आपके यहां ठहरने में उन्हें बड़ा आराम मिलेगा। उन्हें आप ही के यहां ठहरा दूंगा।'

मेरा चित्त प्रसन्नता से खिल गया। मैंने अपने यहां उनके ठहरने की व्यवस्था बड़े मन से की, किंतु मुझे निश्चित रूप से उनको कानपुर लाने वाली गाड़ी की सूचना न मिल सकी। उस दिन लगभग १२ बजे दोपहर तक उनके आने की प्रतीक्षा करता रहा, किंतु वर्माजी न आये। अन्त में मैं विवश होकर 'सुधा प्रेस' जहां कथाकार-सम्मेलन की कार्यसमिति की बैठक होने वाली थी, चल दिया।

जैसे ही मेरा तांगा 'प्रतिमा-कार्यालय' के निकट पहुँचा, मेरी

दृष्टि सड़क पर खड़े हुये प्रतिमा-सम्पादक श्री यादवचन्द जैन पर पड़ी। वे किसी व्यक्ति से खड़े हुये बात कर रहे थे। मैंने फौरन अनुमान लगा लिया कि ये ही श्री वृन्दावनलालजी वर्मा हैं।

मैं तांगे से उतर पड़ा।

श्री यादवचन्दजी ने वर्माजी से मेरा परिचय कराते हुए कहा, 'आप ही श्री वृन्दावनलालजी वर्मा हैं।'

मैं प्रसन्न होता हुआ बोला, 'यह अनुमान मैंने पहिले ही लगा लिया था।'

मेरी ओर संकेत करते हुए श्री यादवचन्द ने कहा 'आप श्री धवनजी हैं।'

श्री वृन्दावनलालजी वर्मा ने प्रसन्नता के साथ कहा, 'मेरी आपसे कभी भेंट नहीं हुई किन्तु मैं आपको बहुत समय से जानता हूं।'

मैं तो उन्हें बहुत काल से जानता ही हूँ, किन्तु वर्माजी भी मुझे बहुत समय से जानते हैं यह सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

वर्माजी मुझसे बोले, 'आपकी 'सुमित्रा' तो ठीक चल रही है न?'

मैंने 'सुमित्रा' की प्रति उन्हें देते हुए कहा 'जी हां, यह फरवरी का अंक है।'

प्रसन्नता के साथ उन्होंने 'सुमित्रा' का अंक लेते हुए कहा 'पत्रिका बहुत सुन्दर है।'

वर्माजी कहीं जाने वाले थे, अतएव बोले, 'मैं अभी यशो-

श्री वृन्दावनलाल वर्मा

विमलानन्द के यहां जा रहा हूँ, लौटकर 'सुधा प्रेस' ही में मिलूंगा।'

वर्माजी चले गये।

[२]

कथाकार-सम्मेलन की कार्य-समिति में लगभग चार घंटे मैं श्री वृन्दावनलाल वर्मा के साथ रहा। श्री अशान्तजी ने जैसा बतलाया था तथा उनके विषय में मैंने जैसी कल्पना की थी वैसा ही श्री वर्माजी को पाया। एक श्रेष्ठ कथाकार में जो बातें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से होनी चाहिये वे सभी मुझे वर्माजी में मिलीं। मैं उनसे 'विराटा की पद्मिनी' के विषय में चर्चा चलाये बिना न रह सका। वर्माजी ने बड़े सुन्दर शब्दों में उस सुयोग का वृतान्त सुनाया जिससे प्रभावित होकर उन्होंने 'विराटा की पद्मिनी' की रचना की।

उस दिन भर मुझे श्री वृन्दावनलाल वर्मा के अत्यन्त निकट रहने का अवसर मिला। श्री वर्माजी बड़े हसमुख और युवकों जैसी बातें करने वाले व्यक्ति हैं। उनके व्यक्तित्व और चरित्र की छाप हमको उनकी 'कृतियो में मिलती हैं। कथाकार जिस प्रकृति, प्रवृत्ति तथा चरित्र का होता है, उसकी कृतियों में भी उनकी स्पष्ट छाप झलक उठती है। मेरे मत से जिस कथाकार की कृतियों में उसका स्वभाव, उसका चरित्र तथा उसके सिद्धांत नहीं चमक उठते वह श्रेष्ठ कथाकार हो ही नहीं सकता।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा की कहानियो और उपन्यासों की शैली उनकी निज की है। वे केवल ऐतिहासिक कहानियाँ या उपन्यास

लिख सकते हैं यह बात गलत है। कथाकार में क्षमता होना चाहिये, तब वह जिस प्रकार की कथा चाहे लिख सकता है। जिसका भाषा पर अधिकार है तथा जिसकी बुद्धि अनुभूतियों में डूबी हुई है वह जिस प्रकार के साहित्य का चाहे निर्माण कर सकता है। इसकी लेखिनी सदैव प्रौढ़ साहित्य को जन्म देने की क्षमता रखती है। वर्माजी कथानक चुनने में जितने सिद्धहस्त हैं उतने ही आकर्षक भाषा लिखने में।

कथाकार की एक विशेषता और है। उसके उपन्यासों के कथानकों में समानता न होनी चाहिये, प्रत्येक उपन्यास का कथानक विभिन्न विषय को लेकर होना चाहिये। पाठक उसका नया उपन्यास पढ़ते समय पिछला उपन्यास भूल ही जाय। श्री वृन्दावनलाल वर्मा में यह गुण प्रचुर मात्रा में वर्तमान हैं। यद्यपि यह स्थान उनके उपन्यासों की मीमांसा और आलोचना करने के लिये पर्याप्त नहीं है फिर भी यह कह देना असंगत न होगा कि उनके 'कचनार' का विषय 'प्रत्यागत' से बिलकुल ही भिन्न हैं। इसी प्रकार 'अचल मेरा कोई' उपन्यास का कथानक पढ़ लेने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसका लेखक 'कचनार' या 'प्रत्यागत' का लेखक नहीं है। 'संगम' का कथानक इन सब उपन्यासों के कथानकों से और भी भिन्न है। यह गुण भी वर्माजी को प्रथम श्रेणी का कथाकार सिद्ध करते हैं।

एक बात और है किसी भी कथानक में कथाकार के व्यक्तिगत जीवन का आभास पाठकों को मिल जाना कोई बहुत अच्छी बात बात नहीं है। कथाकार का जीवन उसके कथानकों में व्यक्त तो

होता ही है और होते रहना चाहिये, किंतु पाठक इस बात को समझ लें तो यह बात कोई अधिक अच्छी नहीं है। मैं तो वर्माजी के किसी भी उपन्यास में उनके व्यक्तिगत जीवन के संबंध में कुछ नहीं पाता। श्री वृन्दावनलाल वर्मा को मैं इन्हीं सब विशेषताओं के कारण हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कथाकार मानता हूं।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी

कानपुर के क्राइस्ट चर्च कालेज की 'कालेज पत्रिका' में एक लेख छपा था जिसका शीर्षक था 'मूंगफली'। यह बात सन् १९२३ के पहिले की हैं और मैं उस समय सातवीं या आठवीं कक्षा का विद्यार्थी था। लेख अंग्रेजी में थे और बड़ी साधारण और स्पष्ट भाषा में होने के कारण मैं उसे पढ़ और समझ सका था। वह लेख मुझे इतना पसंद आया कि मैंने उसे कई बार पढ़ा। उस लेख के शीर्षक के साथ ही साथ उसके लेखक का नाम मुझे कुछ ऐसा प्रिय और रुचिकर लगा कि मैंने उसे भी भली भांति याद कर लिया। लेखक का नाम था श्री सद्गुरुशरण अवस्थी।

हिन्दी की मासिक पत्रिकाओं को पढ़ने की रुचि मेरी बाल्यकाल से थी। उन दिनों श्री दुलारेलाल भार्गव तथा श्री रूपनारायण पाण्डेय के सत्प्रयास से लखनऊ से 'माधुरी' का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया था। हिन्दी के लेखकों को कदाचित् 'माधुरी' ने सबसे अधिक प्रोत्साहित किया।

मैं 'माधुरी' का पाठक था। उन्हीं दिनों 'माधुरी' के किसी अङ्क में मैंने एक लेख देखा जिसका शीर्षक था 'सन्तों का प्रेम'। लेखक के स्थान पर वही पूर्व परिचित नाम पढ़ा 'श्री सद्गुरुशरण

अवस्थी'। इस नाम को पढ़ते ही मुझे उस 'मूँगफली' वाले लेख की फिर याद आ गयी। मैंने 'सन्तों का प्रेम' पढ़ा और उसे पढ़ कर मैं 'मूँगफली' वाला लेख भूल सा गया। अब श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी को मैं 'सन्तों का प्रेम' से याद रखने लगा। उस लेख को पढ़ने के पश्चात् मैं अनुमान लगाने लगा कि इन 'श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी' की रूप-रेखा क्या हो सकती है? लम्बे चौड़े शरीर के दाढ़ी वाले वयोवृद्ध से? अथवा रूखे-सूखे स्वभाव के दकियानूसी व्याख्यानदाता से?

हाई स्कूल पास करने के पश्चात् मैं कालेज की बात सोचने लगा। स्थानीय कालेजों के प्रासपेक्टस मँगवा कर देखे। अचानक बी० एन० एस० डी० कालेज के प्रोफेसरों की सूची पर दृष्टि गयी। देखा हिन्दी के प्रोफेसर के नाम के आगे छपा हुआ है 'श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी।' अयँ, अब तो इनके सम्पर्क में आने का, इन्हें देखने का तथा इनसे कुछ सीखने का स्वर्ण अवसर मिल रहा है। इस सुयोग को क्यों छोड़ा जाय? मैंने बी० एन० एस० डी० कालेज में ही अपना नाम लिखवा लिया।

उसी दिन मैंने सद्‌गुरुशरण अवस्थी के प्रथम बार दर्शन किये—गुरु और शिष्य के रूप में। वे तो मुझे जैसे लग रहे थे। न दाढ़ी थी न व्याख्यानदाताओं का सा रूखापन। बड़े हँसमुख, मिलनसार और मधुर-भाषी ज्ञात हुए। दो वर्ष तक वे मुझे इंटर क्लास में हिन्दी पढ़ाते रहे। उनके पढ़ाने का ढङ्ग भी बड़ा आकर्षक और प्रभावशाली था। अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा मैं कक्षा में उनके दिन प्रति दिन अधिक ही निकट होता चला गया। वह नैकट्य आज भी अक्षुण्ण है।

श्री सद्गुरुशरण जी अवस्थी बड़े सुन्दर आलोचक हैं। उनकी भाषा प्राञ्जल होने के साथ ही साथ ग्राह्य भी है। भाषा की एकरूपता की ओर उनका विशेष ध्यान रहता है। आलोचक प्रवर होने के साथ ही साथ वे बड़े सुन्दर कहानीकार हैं। उनके निबन्ध बड़े विद्वतापूर्ण एव शैक्षणिक महत्व के होते हैं। एकांकी नाटक लिखने में वे अद्वितीय हैं। व्यगात्मक लेख भी वे बड़ी सफलता के साथ लिखते हैं।

उनसे मिल कर चित्त प्रसन्न होता है। वे बड़े सहज भाव से लोगो से मिलते और बातचीत करते हैं। उन्हें अपनी शिक्षा, विद्वता और उच्च पद का अभिमान नहीं है। मैं जब भी जिस कार्य के लिए उनके पास गया सदा यही भावना लेकर गया कि मेरा कार्य हो जायगा।

[१]

जब 'सुमित्रा' के प्रकाशन की बातचीत प्रारम्भ हुयी तो परामर्शदाताओं में मैंने पहिला नाम श्री सद्गुरुशरण अवस्थी का ही प्रस्तावित किया। मेरे अनुरोध पर श्री अवस्थी जी ने तुरत स्वीकृति दे दी। प्रारम्भ में 'सुमित्रा' का प्रकाशन और सम्पादन भी श्री अवस्थी जी के ही निर्देश से हुआ। उन्हें मैं अपना गुरुजन मानता हूँ और वे मुझसे अटूट स्नेह करते हैं। एक बार जब मैंने उनसे एक सस्था का पदाधिकारी बनने का अनुरोध किया तो उन्होंने मुस्कराकर कह दिया 'तुम्हें तो मेरी ओर से मेरे हस्ताक्षर तक कर देने का अधिकार प्राप्त है।'

श्री सद्गुरुशरण जी अवस्थी गत २५ वर्षों से हिन्दी की उपासना में संलग्न हैं। वे बहुत से सुन्दर ग्रन्थों के प्रणेता हैं।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी

इनका 'तुलसी के चार दल' एक बहुत सुन्दर आलोचनात्मक ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त उच्च कोटि की सभी मासिक पत्रिकाओं में उनके सुन्दर निबन्ध, कहानियाँ तथा एकांकी नाटक प्रकाशित होते रहते हैं। इधर वे स्केच' बहुत सुन्दर लिखने लगे हैं। उनकी लेखनी का चमत्कार तो यही है कि वे जो कुछ भी लिखना चाहते हैं उसे प्रबल भाषा में बड़े सुन्दर रूप से लिख लेते हैं। मैं नहीं कह सकता कि मेरी भाषा में उनका कितना प्रभाव है, किन्तु यह निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मैं उनकी भाषा को एक स्टैण्डर्ड भाषा मानता हूँ। श्री अवस्थी जी निस्सन्देह हिन्दी संसार के एक उच्च कोटि के लेखक हैं।

मैं उनके निकट हूँ। इतना नैकट्य मेरी ओर किसी साहित्यकार का नहीं है। वे मेरे प्रति अटूट स्नेह रखते हैं तथा जिस कार्य के सम्पर्क में मैं आता हूँ सदा मेरे लाभ की बात सोचा करते हैं।

इधर उन्होंने एकांकी नाटकों को तीव्र गति से लिखना प्रारम्भ किया है। इन नाटकों का संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित हो कर हिन्दी संसार के सामने आयेगा—तब हिन्दी-संसार समझेगा कि वे इस कला में भी बेजोड़ हैं।

हिन्दी संसार को उन पर तथा उनकी कृतियों पर गर्व होना चाहिए। उन्होंने जिस लगन के साथ हिन्दी के कलेवर की वृद्धि के लिए प्रयास किया है वह प्रशंसनीय है। उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे मातृ भाषा का सिर उन्नत हुआ है।

वे मेरे अत्यंत ही निकट हैं। जिस समय मैं किसी साहित्यिक उलझन में होता हूँ उनसे परामर्श लेने पहुँच जाता हूँ। 'सविता' को सदा ही उनका अमूल्य परामर्श प्राप्त रहता है।

श्री परिपूर्णानन्द वर्मा

[१]

बात उस समय की है जब मैं स्कूल का विद्यार्थी था। बनारस के एक सज्जन जिनका नाम श्री कमलाप्रसाद था, मेरे पिता जी से प्रायः मिलने जुलने आया करते थे। श्री कमलाप्रसाद कानपुर की कचहरी में कर्मचारी थे। तथा छुटि्टयों में प्रायः बनारस चले जाया करते थे। मैं भी इन्हीं श्री कमला प्रसाद के साथ ही प्रथम बार बनारस गया था।

श्री कमलाप्रसाद की, प्रारंभ ही से हिन्दी में बड़ी अभिरुचि थी। स्वभाव से ही संस्कृतिक मनोवृति होने के कारण श्री कमलाप्रसाद बनारस के सम्बन्ध में इतनी सुन्दर-सुन्दर बातें किया करते थे कि मैं बड़े मनोयोग से उन्हें सुना करता था। इन्हीं श्री कमलाप्रसाद जी के द्वारा मुझे सर्व प्रथम श्री परिपूर्णानन्द जी के नाम का परिचय मिला। कमलाप्रसाद जी श्री सपूर्णानन्द, श्री अन्नपूर्णानन्द तथा श्री परिपूर्णानन्द के

सम्बन्ध में बहुत सी बातें किया करते थे। हिन्दी की ओर इन नंदबन्धुओं की अभिरुचि ही उनकी बात का मुख्य विषय हुआ करता था।

सर्व प्रथम मुझे श्री संपूर्णानन्द जी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं प्रारंभ ही से राजनैतिक मनोवृत्ति का हूँ अतएव श्री संपूर्णानन्द जी के दर्शन हो जाना स्वाभाविक ही था। मैं उनके द्वारा प्रणीत निबंधादि बहुत दिनों से पढ़ा करता था। मुझे ठीक से याद नहीं कि मैंने उन्हें पहिली बार कहां देखा किन्तु यह निश्चित है कि किसी कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर ही मैंने उन्हें देखा होगा। अस्तु—

श्री परिपूर्णानन्द के लेखादि कदाचित् मैंने सबसे प्रथम 'सरस्वती' में पढ़े। श्री परिपूर्णानन्द जी सदैव ओजपूर्ण निबंध ही लिखते आये हैं अतएव मुझे सदा से पसंद आते रहे हैं। बहुत काल तक उनके लेखादि पढ़ने के पश्चात् उनके दर्शनों की इच्छा भी बलवती होती चली गई, किन्तु उनके निकट आने का कभी अवसर न मिला।

मुझे ठीक से स्मरण नहीं कि वे कानपुर में किस सन् ईसवी में आये, किन्तु सबसे पहिले उनके दर्शन मुझे खत्री स्कूल के प्रधानाध्यापक श्री अमीरचंद जी मेहरा के यहां हुए। दुबले-पतले गेहुँए रंग के, जरा से लम्बे क़द के तथा चेहरे पर लेखकों का सा अपूर्वत्व लिए, श्री परिपूर्णानन्द जी को मैंने श्री अमीरचंद जी मेहरा के यहां प्रथम बार ही देखकर अनुमान लगा लिया कि वे मिलनसार और बड़ी स्वतंत्र मनोवृत्ति के व्यक्ति हैं। श्री मेहरा ने मेरा उनसे परिचय कराया। उसी समय से एकाएक मैं अपने

को उनके बहुत निकट अनुभव करने लगा।

उस समय कदाचित् कानपुर के उद्योगपति सर पद्मपति सिंहानियां के अन्तरंग सहकारी थे। उनसे मिलकर चित्त बड़ा प्रसन्न हुआ। श्री परिपूर्णानद वर्मा स्वभाव से ही बड़े मिलनसार तथा क्रियाशील व्यक्ति हैं।

[२]

उन दिनों काशी के 'आज' में कदाचित एक संपादक का स्थान रिक्त हुआ था। श्री परिपूर्णानंद जी मुझे उस स्थान पर नियुक्त करवाना चाहते थे। उन्होंने मुझे एक पत्र देकर काशी भेजा। पत्र श्री अन्नपूर्णानंद जी के नाम का था।

इस मसले को लेकर मुझे श्री अन्नपूर्णानंद जी के दर्शन का भी अवसर मिल गया। मैं उनसे उनके मकान जालपादेवी में मिला। श्री अन्नपूर्णानद जी सौम्य प्रकृति के गम्भीर व्यक्ति हैं। उनके दर्शन करके यह जान लेना कठिन है कि वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ हास्य लेखक हैं।

मैं उनसे मिला तथा 'आज' में मैंने दो-तीन दिन काम भी किया, किन्तु वातावरण अनुकूल न देख कर मैं वहां से लौट आया। इस बहाने मुझे श्री अन्नपूर्णानंद जी के दर्शन होने थे।

उनके पश्चात् मैं बराबर श्री परिपूर्णानंद जी के निकट आने लगा। वे क्रियाशील मनोवृत्ति (*Activ -Nature*) के व्यक्ति हैं। जिस कार्य को हाथ में लेते हैं उसमें पूरी तरह से जुट जाते हैं। उन्हें अपनी सफलता पर विश्वास रहता है। वे जिसका समर्थन करते हैं मन से करते हैं।

हिन्दी के प्रति उनकी बड़ी सेवायें हैं। वे निबन्ध, कहानी,

एकांकी तथा नाटक, सभी कुछ लिखते हैं। राजनीतिक, लेख और कहानियां उनकी विशेष रूप से महत्वपूर्ण रहती हैं। अभी हाल में 'नाना फड़नवीस' नामक उनका एक बहुत ही सुन्दर ऐतिहासिक नाटक प्रकाशित हुआ है। सन् १८५७ की जनक्रांति पर भी उन्होंने एक सुन्दर सी पुस्तक लिखी है। वे अध्ययनशील व्यक्ति हैं तथा अध्ययनशील व्यक्ति को ही लेखनी में कुछ भी लिख डालने की क्षमता रहती है। उनकी कुछ कहानियों में यथार्थवाद के दर्शन होते हैं। उनके द्वारा वर्णित पात्र आप को अपने आस-पास मिल जायेंगे। समस्याओं का हल भी वे कहानी में बड़े सुन्दर रूप से प्रस्तुत करते हैं। कुछ राजनीतिक और सामाजिक झंझटों में फंसे रहने पर भी वे निरन्तर साहित्य-सेवा में संलग्न रहते हैं। अध्ययन और लेखन उनकी दिनचर्या में हैं। इधर कई वर्षों से वे कानपुर से प्रकाशित होने वाले 'दैनिक जागरण' का बड़ी कुशलता के साथ संपादन कर रहे हैं। अपराध निरोधक आंदोलन में उनकी विशेष दिलचस्पी रहती है तथा आजकल उनका बहुत सा समय इसी आंदोलन में व्यतीत होता है। सम्भवतः इस सम्बन्ध में वे एक पुस्तक भी लिख रहे हैं।

श्री परिपूर्णानंद पुराने साहित्यक और समाजसेवी हैं। अब वे मेरे बहुत निकट हैं। 'सविता' को उनका सहयोग विशेष रूप से प्राप्त है। उनके अमूल्य आदेश यदा-कदा प्राप्त रहते हैं।

हिन्दी संसार को अभी उनसे बड़ी आशायें हैं।